वैदिक धर्म का आगामी वर्ष.

वैदिक धर्मका षष्ठवर्ष समाप्त होगया और क्रमांक ७३ से सप्तम वर्षका प्रारंभ होगा।

(१) इस समय इसकी पृष्ठसंख्या ३२ है। परंतु अगले वर्षसे इसकी पृष्ठसंख्या ४० की जायगी।

(२) वार्षिक मूल्य म. आ. से ३॥) है और वी. पी. से ३॥=) है, वह वार्षिक मूल्य म. आ. से ४) रु. और वी. पी. से ४॥) रु. होगा।

(३) प्रतिमास सुंदर वेदमंत्र अनेक रंगोंमें मुद्रित करके वैदिक धर्म मासिक के साथ दिये जांयगे।

(४) प्रतिमास कमसे कम आठ पृष्ठ वेदमंत्रों के स्वाध्याय के लिये दिये जांयगे।

तथा अन्यान्य परिवर्तन बहुतसे किये जांयगे जो अवश्य ही इस मासिक की उपयुक्तताको बढायेंगे इतना करने पर भी एक—

सहूलियत।

पाठकोंको देनेका विचार है। जो पाठक इस सहूलियत से फायदा उठाना चाहते हैं वे शीघ्र ही उठावें क्यों कि यह सहूलियत एक जनवरी १९२६ के पश्चात मिलेगी नहीं।

सहूलियत की शर्तें।

(१) जो पाठक दो सालका चंदा इकट्ठा भेज देंगे वे केवल सात रु. में दो वर्ष वैदिक धर्म प्राप्त कर सकते हैं। इससे उनका एक रु. का लाभ होगा।

(२) जो पाठक तीन सालका चंदा इकट्ठा भेज देंगे वे केवल दस रु. में तीन वर्ष वैदिक धर्म प्राप्त कर सकते हैं। इससे उनका दो रु. का लाभ होगा।

स्मरण रहे कि यह चंदा ३१ दिसेंबर सन १९२५ तक ही आना चाहिये। आगामी जनवरीसे इस सहूलियत के चंदेका स्वीकार नहीं होगा और उनको म. आ. से चार रु. और वी. पी. ४॥) रु. ही देना पडेगा आशा है कि पाठक इससे अपना लाभ उठावेंगे।

पाठकोंसे प्रार्थना।

इस वर्ष यदि पाठक कमसे कम एक नया ग्राहक वैदिक धर्म के लिये देनेकी कृपा करेंगे तो हम इसमें अधिकाधिक सुधार कर सकते हैं। आशा है कि पाठक इतनी सहायता करेंगे।

प्रबंधकर्ता—वैदिक धर्म।

आर्य समाज का इतिहास।

(प्रथम भाग)

लेखक:-श्रीयुत इन्द्र विद्यावाचस्पति।

आर्य समाज के क्रमबद्ध और विस्तृत इतिहास का अभाव था। उसे पूरा करने के लिए श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी के आज्ञानुसार यह इतिहास लिखा गया है। इतिहास क्या है। एक मनोरंजक उपन्यास है। भाषा [illegible] और भावपूर्ण है। अंग्रेजी का प्रसिद्ध माडर्न रिव्यू लिखता है कि इस इतिहास से एक बडा अभाव पूर्ण होगया है। पहले भाग में ऋषिदयानन्द के आश्चर्यजनक जीवन, आर्यसमाज की स्थापना, डी, ए. वी. कालिज के प्रारम्भ और पं. गुरुदत्त एम० ए० के जीवन का वृत्तान्त है। हर एक आर्य के घर में रहना आवश्यक है। सजिल्द का मूल्य २)

मैनेजर विजय पुस्तक भंडार दिल्ली।

कृतं स्मर ॥

यजुर्वेद. ४०।१५

अपने किये हुए कर्मोंका विचार कर ।

आपल्या केलेल्या कर्मांचा विचार कर.

Think of thy past deeds.

वर्ष ६
अंक १२
क्रमांक ७२

मार्गशीर्ष
संवत १९८२
दिसंबर
सन १९२५

वैदिकधर्म.

वैदिक तत्वज्ञान प्रचारक सचित्र मासिक पत्र ।

संपादक— श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्याय मंडल, औंध (जि. सातारा)

हम शत्रुरहित हों ।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुंदुभिः ॥
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी
कृणोतु ॥ ४१ ॥ अथर्व. १२ । १ । ४१

(यस्यां) जिस भूमिमें (वि-ऐलबाः) विशेष प्रेरणा करने वाले वीर (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं और (नृत्यन्ति) नाचते हैं । जिसमें (आक्रंदः) गर्जना करनेवाले वीरगण (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं और जिसमें (दुंदुभिः) ढोल बजता है । वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुदतां) हटा देवे और (मा) मुझे (अ—सपत्नं)शत्रुरहित (कृणोतु)करे ।

जिस मातृभूमिमें हम सब लोग आनंदसे गाते और नाचते हैं, जिसकी स्वतंत्रताके लिये हम युद्ध करते हैं और रणवाद्य बजाते है वह मातृभूमि हमें शत्रु रहित करे और सब शत्रुओंको दूर भगा देवे ।

यज्ञों के रूप ।

(ले०- श्री० पं० अभय देवशर्माजी वेदाचार्य)

इस यज्ञकी व्याख्या पढने से पूर्व पाठकों को इस बातसे परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है कि यह संगठनरूप यज्ञ हमारे सामने किन किन रूपोंमें आता है और इस परिचय को पानेके लिये पाठकों को अपने मनसे यज्ञविषयक अन्य सब अशुद्ध संस्कार निकाल डालने चाहिये। अर्थातक 'यज्ञ' शब्द सुनने से या तो हमें हवन अग्निहोत्र का ध्यान आता है या किन्हीं कथाओंमें सुने अज्ञात गोमेध, नरमेध, अश्वमेध, राजसूय, पुत्रेष्टि आदिका अपना अपना मनःकल्पित चित्र सामने आजाता है। पर मैं जानता हूं कि अब इतने विवेचन के बाद आपके सामने यज्ञ शब्द किसी 'संगठित मनुष्य समुदाय द्वारा किये जाने हुए शुभ कार्य'का ही चित्र आने लगे, अधिक से अधिक अपने नैत्यिक पवित्र वैयक्तिक कर्तव्यों को भी यज्ञाङग होने के कारण आप यज्ञ कह सकते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त और सब यज्ञविषयक कल्पनायें अपने मन से निकाल दीजिये। तभी आप यज्ञको यथार्थरूप में समझ सकेंगे। इस प्रकार समाज का चातुर्वर्ण्य और आश्रम व्यवस्था का संगठन एक महायज्ञ है। राष्ट्र एक यज्ञ है। स्वराज्यसंगठन (Government) एक यज्ञ होता है। संग्राम-बुराई के नाश के लिये किया गया संग्राम-यज्ञ है। वर्तमान समयमें भारतमें राष्ट्रीय महासभा(National Congress) एक यज्ञ है। आर्य समाज एक उच्च यज्ञ है। गुरुकुल आदि शिक्षा संस्थायें यज्ञ हैं। हमारी प्रतिनिधि सभायें यज्ञ हैं। राष्ट्रीय सभासमितियां यज्ञ हैं। सेवा समितियां पवित्र यज्ञ हैं। दलितोद्धार सभा यज्ञ है। सम्मेलन और सभाओंका प्रत्येक अधिवेशन यज्ञ है। व्यापार संगठन (जो कि गरीबोंका नाश नहीं करता) यज्ञ है। प्राचीन भारत के एक पेशेवालों के ये संगठन यज्ञ होते थे। एक गृहस्थ परिवार यज्ञ है। तात्पर्य यह कि सब छोटे बडे संगठन जो कि कल्याण के लिए किए गए है यज्ञ हैं। इन में हमारी यज्ञभावना होनी चाहिये। यदि हम इनमें महत्त्व देखेंगे और इन यज्ञों का अनुष्ठान करेंगे तभी हम इस योग्य भी होंगे कि हमारे शास्त्रोंमें जो अन्य सूक्ष्म यज्ञ प्रतिपादित हैं उन्हें भी समझ सकें। इस लिए हमें ऐसा अभ्यास डालना चाहिये कि हम इन उपर्युक्त संगठनों में यज्ञ-दृष्टि रखें। येही रूप है जिन रूपों में कि यज्ञ प्रतिदिन हमारे सामने रहता है। इन्हीं यज्ञों का ठीक तरह करना हमारा पहिला कर्तव्य है। इन्ही को पूरा करने से हमारा कल्याण हो सकता है। और इन्हें बिना पूरा किये हम आगे नहीं बढ सकते। इसके लिए हमें यह पता लग जाना चाहिये कि ये उपर्युक्त संगठन यज्ञ हैं और येही अवश्य कर्तव्य यज्ञ हैं।

यह तो लिखने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक प्रकार का संगठन (अर्थात् अशुभ के लिये किया गया संगठन भी) यज्ञ नहीं होता। यह बात आगे विस्तार से लिखी जायगी, पर यहां इतना संकेत कर देना आवश्यक है कि पर पीडन के लिए, गरीबोंको

सतानेके लिए, दूसरों का खून चूसने के लिए भी संगठन—बडे भारी संगठन—किए जा सकते हैं, पर वे इतने ही बडे भारी पाप पुंज होते हैं-यज्ञ नहीं। दुर्लक्ष्य सामने आते ही संगठनमें से यज्ञकी देवता निकल जाती है और उस पर असुरों का कब्जा हो जाता है। जब लोग यज्ञ करना सीख जाते हैं तो यह ही सब से बडा खतरा है जिससे कि यज्ञको प्रतिक्षण बचाना होता है। शक्ति पाने पर उसके दुरुपयोगका प्रलोभन स्वभावतः आता है। यज्ञ एक महाशक्ति है अतः इसे भी इस शत्रु से बचाना आवश्यक है। ऋषि लोग सब यज्ञोंको लगातार असुरोंके आक्रमण सें बचाया करते थे। अस्तु। भारतवासियोंने तो अभी यज्ञ कला सीखा ही नहीं अतः इन्हें अभी इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं।

(८) यज्ञसे जो चाहो प्राप्त कर लो।

यदि पाठक यह जान गए कि यज्ञ मिल कर काम करनेका नाम है तो वे अब जरा गीतामें कहे भगवान् कृष्णके निम्नश्लोक का मनन करें :—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

' प्रजापतिने यज्ञके सहित प्रजाओंको बना कर (प्रजाओंसे) कहा कि (तुम) इस (यज्ञ) से (जो कुछ चाहो) उत्पन्न करो। यह (यज्ञ) तुम्हारी सब अभिलषित इच्छाओंका पूरा करने वाला होवे।

इस श्लोकमें दो बातें कहीं हैं (१) प्रजाओंके साथ साथ ही यज्ञको भी प्रजापतिने पैदा किया (२) यज्ञ प्रजाओंकी सब इच्छा पूरी करने वाला होता है। पहिले बातको समझनेके लिए यह ढूंढना चाहिये कि मनुष्यके साथ ही पैदा होनेवाला यज्ञ कौनसा है। वेदमें भी मनुष्यमें स्थित इस यज्ञका वर्णन पाया जाता है। उदाहरणार्थ अथर्व वेदके केन नाम्नी सूक्त (१० । २) में जहां मनुष्यके अंग अंगोंके उत्पादक को पूछा गया है वहां यह भी पूछा है कि—

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
अ० १० । २ । १४

" किस एक देवने इस मनुष्यके अन्दर यज्ञको रखा है " ॥ ऐसी अन्य भी कई स्थल हैं जहां कि यज्ञको परमात्मा द्वारा मनुष्यके अन्दर रखा हुवा बताया गया है। वह यज्ञ क्या है ?। यह है मनुष्य का मिलनेका, मिलकर काम करने का स्वभाव मनुष्य स्वभावतः मिलनस्वभाव है, यज्ञशील है। प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, (Man is a social being.) यहां मूल यज्ञ को यज्ञ कहा है। मनुष्यमें जो यज्ञका बीज है उसे यज्ञ कहा है। यह है यज्ञ जो कि मनुष्य के साथ ही मनुष्य के हृदयमें प्रजापति ने पैदा किया है, क्यों कि स्वभावतः ही प्रजापति परमात्माने मनुष्य को मिलनसार बनाया है। यह मिलन स्वभावता का बीज ही-यह मनुष्य के साथ पैदा हुआ यज्ञ ही बढता हुआ सब सामाजिक संगठनो को बनाता है। अथर्व वेदके ८ । १० । (१) सूक्त में इस बीज का गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय, सभा, समिति, आदिरूप में विकास दिखाया गया है। इस लिए यहां तथा अन्य ऐसे स्थलों पर यज्ञ का अर्थ है मनुष्य का मिलने का स्वभाव जो कि बाहर यज्ञ (संगठन) के रूपमें प्रकट होता है। अस्तु। हम प्रजाओंके पालनेवाले ने हम में उत्पत्ति के साथ इस यज्ञ को पैदा कर अर्थात् हमें मिलन स्वभाव बनाकर ही मानो कह दिया है कि तुम इस

यज्ञ से जो चाहो पैदा कर लो। यह दूसरी बात सब जानते हैं कि संगठन, मिलना 'इष्टकामधुक्' है। संघशक्तिसे जो चाहो प्राप्त करलो। कमसे कम बातें करने के लिए हम भी यह जानते हैं। हम इस पर व्याख्यान दे सकते हैं, मेरे जैसे इस पर लेख लिख सकते हैं। परन्तु इस यज्ञको करना इससे अपनी कामनायें पूरा करना जरा विश्वास की अपेक्षा रखता है। जिसे विश्वास है कि संघशक्ति के विना ये काम पूरे नहीं हो सकते यह अवश्य इस यज्ञ को अवश्य करता है। उसी के विषय में कहा जा सकता है कि वह इस तत्त्वको जानता है। चाहें उसने भगवद्गीता को कभी न पढा हो।

इस तत्त्व को जानते हैं हालैण्ड निवासी जो कि मुठ्ठी भर लोग समुद्र में समुद्र को अपने बांधोंमें बांधते हुए अपनी सत्ता रखते है। अपनी स्वतंत्र' उन्नति शील और स्वाभिमान सत्ता रखते है। क्या अपनी यह इच्छा पूरी करना साधारण बात है? इस तत्त्व को जानते हैं वे थोडेसे इग्लैण्ड निवासी जो कि सात समुद्र पार एक छोटे से टापूमें रहते हुए ३०करोड हिन्दुस्थानियों भेडों की तरह जिधर चाहते हैं हांकते है इससे अधिक और असंभव इच्छा क्या हो सकती है ? पर यज्ञ – संघशक्ति उन की यह इच्छा भी पूरी करती है। इसमें किसी का क्या है; भगवान् कृष्ण के शब्दों में कोई यज्ञका अनुष्ठान करेगा यज्ञ उसके सामने कामधेनु होकर खडा हो जावेगा और कहेगा कि "मुझ से जो चाहो दुह लो"। भले ही यह लेख हिन्दुस्थानिओं की पवित्र धर्म पुस्तक में लिखा है, पर जो इसे करेगा फल तो उसे ही मिलगा। यज्ञ के विना हिन्दुस्थानियोंकी स्वराज्य (अपना राज्य) होने की परम स्वाभाविक इच्छा भी पूरी नही हो सकी और न पूरी होगी जब तक कि हम ठीक ठीक यज्ञ करना न सीखेंगे। हमारी हालत तो यह है कि वह यज्ञ जिससे कि स्वराज्य की इच्छा पूरी हो वह तो दूर रहा, हमारे अभी छोटे छोटे मिलकर किये जानेके कार्य भी नहीं चलते हैं। छोटा सा यज्ञ भी हमसे निबाहा नहीं जाता है। हमारे चाहें कैसी हालत हो पर यह सत्य तो सूर्यकी तरह चमक रहा है और सदा चमकता रहेगा (हम इसे देखें या न देखें) कि 'यज्ञसे जो चाहो दुह लो'।

(९) यज्ञमें अविश्वास

हर एक विचारशील भारतवासी के मन में अन्ततः आता है कि यज्ञ के विना हमारा विस्तार नहीं। पर फिर भी हम मिल कर कार्य करने में असमर्थ रहते है। क्यों ? इस के दो कारण हैं। (१)यज्ञमें अविश्वास (२) यज्ञ के नियमों का अज्ञान। हमारा इस यज्ञमें विश्वास तो तब हो यदि हम पहले इन्हें यज्ञ तो समझें। मुझे यह फिर दोहराना पडता है कि हमारी इन कार्यों में यह भावना होनी चाहिये। यदि कोई हमारा पवित्र संगठन टूटता है या हमारी कोई संस्था बिगडती है तो हमें कोई विशेष बात नहीं अनुभव होती। हम यह नहीं समझते कि यज्ञध्वंस हो गया, एक बडा पाप होगया। यह इसलिए होता है क्यों कि हम इस श्रेष्ठ संगठनों में कार्य करते हुए अपना स्वाभिमान नहीं अनुभव करते कि "मैं यज्ञ में संमिलित हूं।" राष्ट्रीय महासभा के एक सभ्य को तथा प्रतिनिधि सभा के अधिकारी को गुरुकुल के एक कर्मचारी को अपने अपने संगठन के कर्तव्यों को करते हुए यह भाव सदा जागृत रखना चाहिये कि 'मैं यज्ञ कर रहा हूं।' इस यज्ञभावना के विना यज्ञ में श्रद्धा कैसे हो सकती है जो कि परम आवश्यक है। यह यज्ञभावना ही हमें बहुत ऊंचा

उठा देगी और हमारे कार्य में कर्तव्य पालन में तेज, बल और सौन्दर्य लादेगी। इस के साथ फिर यज्ञ की सफलता में श्रद्धा होनी चाहिये। चाहे कितनी विपरीत अवस्थायें हों यज्ञका सहारा न छोडना चाहिए और विश्वास स्थिर रखना चाहिये कि यज्ञ से अवश्य विजय मिलेगी। इष्ट काम अवश्य पूरा होगा। वेदों और उपनिषदों के मानने वालों को चाहिए कि वे यज्ञ की ही शरण लें तो उनके दुःख निश्चय से ही निवृत्त होंगे। यह ठीक है कि हमारे संगठन जल्दी जल्दी बिगड जाते हैं और बिगडते भी रहेंगे, पर हमें घबरा कर यज्ञ को न छोड देना चाहिए। यह तो अमोघ अस्त्र है केवल इस में श्रद्धा और तज्जनित धैर्य चाहिए।

(१०) यज्ञ के नियमों का अज्ञान।

दूसरी बात है यज्ञ के नियमों का न जानना। यह एक घोर सचाई है, कि हम भारतवासी यज्ञों के चलाने के नियमों को-मिलकर काम करने के सिद्धान्तों को-कुछ भी नहीं जानते हैं। कारण स्पष्ट है कि हम ने संगठन बनाये हीं नहीं, इन्हें यज्ञ समझना भूल गये, अतः इनके नियमों का हमारे समाज में विकास नहीं हुआ पाश्चात्य देशों में (यद्यपि वे यज्ञशब्दका प्रयोग नहीं करते) इन यज्ञों का बडा प्रचार हुआ और वे मिल कर काम करने की विधाके नियमों को बहुत जान गए। अस्तु। आगे इस लेखमें इन्हीं नियमों को कुछ बतलाने का यत्न किया जायगा परन्तु अमल में नियम व्यवहारमें आने से ही समझमें आते हैं, किताबों में लिखे रहने से कुछ नहीं होता। अतः विचारशील पाठकों से निवेदन है कि वे आगे लिखे यज्ञ के मोटे मोटे नियमों का ही पालन करें- व्यवहार में लाकर देखें (तब अन्य नियम इन्हें अपने आप दीखने लगेंगे)

तो इनके संगठन अच्छी तरह चलने लगेंगे। हमें पूरा विश्वास है कि अपने पवित्र संगठनों को यज्ञ समझते हुए यदि हम इन निम्न नियमों का पालन करेंगे तो हमारी स्वराज की इच्छा ही नहीं पूरी होगी किन्तु हम भी सचमुच यज्ञरूपी कामधेनुवाले हो जायेंगे और अपनी अतीव असम्भव दीखने वाली इच्छाओं को भी पूर्ण कर सकेंगे।

(११)यज्ञ पुरुष के तीन अंग।

यज्ञ के नियमों को जानने के लिए मेरी समझ में यज्ञके धात्वर्थ को ही समझ लेना बहुत है। (यज्ञ) शब्द में ही सब कुछ विद्यमान है। संस्कृत की धातुओं में कितनी उत्तमता है और पूर्णता है इसका शायद सर्वश्रेष्ठ उदाहरण यज्ञशब्द की 'यज्' धातुमें देखने को मिलता है। एक बार धातुपाठके रचयिता ऋषिके आगे सिर झुक जाता है और हृदयमें उन के लिए सम्मान का पद स्थिर हो जाता है। अस्तु। यज धातुका अर्थ है 'देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु'। यज् धातु के ये तीन अर्थ हैं।

(१)देवपूजा = देवकी पूजा

(२)संगतिकरण = मिलना, मिले रहना

(३)दान = देना

मैं पहले बतला चुका हूं कि यज्ञका मुख्य अर्थ बीच के अर्थ में अर्थात् 'संगति करण' में है। यज्ञ अपने मध्य के अर्थ में केन्द्रित है। इसी लिए यज्ञ का स्वरूप मैंने बतलाया है "मिलना, सम्बन्ध रखना, ठीक संबन्ध रखना" इत्यादि। परन्तु यह मिलना या सम्बन्ध तीन प्रकारसे हो सकता है, अतः यज् धातु के तदनुसार ऋषिने तीन ही उपर्युक्त अर्थ रक्खे हैं। मनुष्य का मनुष्य के साथ निम्न लिखित तीन प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है।

(१) अपने से बडे के साथ सम्बन्ध-जुडे रहना।

(२) अपने बराबर वाले के साथ सम्बन्ध-जुडे रहना ।

(३) अपने से छोटेके साथ सम्बन्ध जुडे रहना।

यह तीन प्रकार का सम्बन्ध क्रमशः देवपूजा, संगतिकरण और दान का होना चाहिए। स्पष्ट है कि इस प्रकार प्रत्येक संगठन के ३ विभाग हो सकते हैं। ये ही यज्ञ के तीन अंग है। तात्पर्य यह हुआ कि अपने से बडे के साथ, अपने बराबर वाले के साथ, अपने से छोटे के साथ क्रमशः देवपूजा के सम्बन्ध से, संगति करण के सम्बन्ध से, दान के संबंध से जुडे रहने का नाम यज्ञ है। और स्पष्ट कहा जाय तो प्रत्येक संगठन में अपने से बडोंके साथ देववत् पूजाका संबंध रहना चाहिए, अपने साथियोंके साथ सदा मिला रहना चाहिए और अपने से छोटोंको देते रहना चाहिए तब प्रत्येक संगठन ठीक तरह चलता रहेगा। बडों की पूजा हो, सेवा हो, उनका आज्ञापालन हो, इसीसे हम बडों के साथ जुडे रह सकते हैं, इस में त्रुटि होने से यज्ञ ऊपर से भंग हो जाता है। बराबर वालोंके साथ परस्पर मेल रहना चाहिए, प्रेम का आकर्षण होना चाहिए, मैत्री-स्नेह रहना चाहिये, नहीं तो यज्ञ मध्यसे टूट जायगा। और अपने से छोटों को सब कुछ देना चाहिये, कमी पूरी करते रहना चाहिए नहीं तो यज्ञ नीचे से गिर पडेगा इस। प्रकार इन तीन नियमों में ही सब कुछ आगया है। इसे विस्तार से समझने के लिए पाठक निम्न लिखित कोष्टक को ध्यान से देखें और आगे जो दूर तक इसकी व्याख्या की गई है उसे पढकर इस कोष्टक को अच्छी तरह हृदयंगम करलें तो वे यज्ञ के रहस्यको समझ जायेंगे।

१२ यज्ञ पुरुष।

यज्ञ के तीन अंग		अंगोंका रस	अंगोंकी चेष्टा	एकएक अंगके	एकएक अंगके	यज्ञका	यज्ञका
अंग	नाम		कर्म	रक्षक देव	नाशक असुर	प्राण	चालक शत्रु
उत्तमांग सिर	बडोंकी देवपूजा	भक्ति	आज्ञापालन अनुसरण	श्रद्धा ऋ१०-१५१ विश्वासी	अज्ञान अभिमान संदेह काम आदि	बलिदान	स्वार्थ
मध्यमांग धड	बराबरवालोंसे संगतिकरण	प्रेम	एकोद्देशसे तत्परता मदुद्योग	सांमनस अथ०३-३० परस्परमत्री	ईर्ष्या द्वेष क्रोध द्रोह आदि	बलिदान	स्वार्थ
आधारांग नाभि से नीचेका भाग	छोटोंको दान	करुणा	सहायता देना रक्षा करना	सोम औषधि ऋ. १०.९७ सहानुभूति	क्रूरता अन्याय लोभ मद आदि	बलिदान	स्वार्थ

१३ यज्ञ पुरुषके अंगोंका रस

संसार में दो प्रकार की शक्तियां काम कर रही हैं। एक शक्ति मिलाने वाली है, दूसरी जुदा करनेवाली है। एक जोडने वाली, इकठ्ठा करने वाली है और दूसरी अलग अलग करने वाली, फाडने वाली है। इन का नाम भिन्न भिन्न दोन क्षेत्र में भिन्न भिन्न है। पर मानवी संसार में मिलाने वाली शक्ति का नाम प्रेम है और जुदा करने वाली का नाम घृणा। इन में पहिली शक्ति यज्ञिय है और दूसरी अयज्ञिय है। जिन्हें यज्ञ करना है-मिलना है-मिलाना है वे प्रेम को अपनाएंगे, जिन्हें यज्ञभंग करना है-लोगों को फाडना है-एक दूसरे को जुदा करना है वे घृणाकी पूजा करेंगे। अतः यज्ञ चाहने वाले भारत वासियों को प्रेम की उपासना करनी चाहिए। प्रेमही यज्ञ-शरीर में "अंगिरस" है। यज्ञ के अंगों में बहने वाला रस है। प्रेम के न्हास होने से यज्ञ सूख कर नष्ट हो जाता है। इस प्रेम रस के सूखने पर यज्ञ का प्राण (जो पाठक आगे देखेंगे) निकल जाता है। प्रेमके रस से यज्ञ का एक एक अणुअणु परस्पर जुडा रहता है। प्रेम मिलाने वाली शक्ति है और मिले हुए संगठन का नाम यज्ञ है। इसलिए 'प्रेम' यज्ञ का जीवन रस है।

पं० भगवानदास जी ने अपनी (The Science of the Emotions) नामक पुस्तकमें सब भावोंके (Emotions के) दो विभाग किए हैं (१) प्रेम मूलकभाव (२) घृणा मूलक भाव। फिर प्रत्येक के तीन तीन विभाग किए हैं। उसे यहां यज्ञ की व्याख्या में अवश्य स्मरण करना चाहिए। यज्ञ शरीर में बहने वाले रस का एक नाम प्रेम है परन्तु वह रस भिन्न भिन्न अवयवों में भिन्न भिन्न नाम से पुकारा जाता है। उत्तमांग में वह भक्ति है, मध्य शरीर में प्रेम है और तृतीय भाग में करुणा है अर्थात् अपने से बडे में प्रेम का नाम "भक्ति" है, अपने बराबरवाले में प्रेम "प्रेम" शब्द से ही कहा जाता है और छोटे से प्रेम करना "करुणा" कहलाता है।

इस प्रकार एक ही प्रेमरस यज्ञ शरीर के तीन अंगों में इन तीन रूप से बहता है और यज्ञ को सजीव रखता है।

यज्ञ का उत्तमाङ्ग अर्थात् देवपूजा तभी ठीक तरह काम करेगा यदि उस में भक्तिरस द्वारा हम अपने बडों का आदर सत्कार करते रहेंगे। यज्ञ का मध्य अर्थात् संगति करण तभी ठीक तरह काम करेगा यदि प्रेमका रस बराबर वालों में मेल बनाए रखेगा। और यज्ञ का आधराङ्ग अर्थात् दान तभी ठीक तरह काम करता रहेगा यदि करुणा रस से आर्द्र रहकर हम अपने छोटों को सदा देते रहने में तत्पर रहेंगे (देखो कोष्ठक का दूसरा स्तम्भ)

१४ यज्ञ पुरुष के अङ्गों का व्यापार व कर्म।

परन्तु केवल (भक्ति आदि) भावों से काम नहीं चलेगा जब तक कि भावसे प्रेरित होकर कर्म न निकलेंगे, भाव कर्म के रूप में न प्रकट होंगे। इसी लिए यज्ञ में कर्म की मुख्यता है। शरीर के अपने कर्म को व्यापार व चेष्टा कहते हैं। इन भक्ति, प्रेम और करुणा द्वारा क्रमशः तीनों अंगों में जो कर्म होने चाहिए-जो व्यापार होने चाहिए-उन्हें कोष्ठक के तीसरे स्तम्भ में लिखा हुआ पाठक देखेंगे।

भक्ति प्रेरित हो यज्ञ के उत्तमांग में बडों का आज्ञापालन तथा उन का अनुसरण (नेतृत्वस्वीकार) यह चेष्टा होनी चाहिए। प्रेम प्रेरित हो यज्ञ के

अध्यमांग में एकोद्देश्य से मिलकर काम करना, सहोद्योग यह चेष्टा उत्पन्न होनी चाहिए तथा करुणा-प्रेरित हो यज्ञके तृतीयांग में दान द्वारा छोटों की सब प्रकारसे सहायता करना, उनकी रक्षा करना यह चेष्टा व कर्म होता रहना चाहिए।

देवपूजाका अर्थ वाचिक या मानसिक ही नहीं है। यज्ञ में तो कर्म मुख्य है। इस लिए बडों की पूजा जब भी की जावेगी, बडों की पूजा क्रियामें आएगी तब वह "उन का आज्ञापालन, उनकी शिक्षा मानना, उनका अनुसरण करना" इन रूपों में ही प्रकट होगी। एवं क्रियात्मक संगति करण "एकोद्देश्यता से चलने, परस्पर मिलकर सहोद्योग" के रूपमें ही प्रकट होगा। और दान का अर्थ कुछ ही दे देना नहीं है किन्तु छोटों को उनकी आवश्यकता जान कर उसकी पूर्त्यर्थ देना, छोटों की कष्टोंसे रक्षा करने की चिन्ता रखना और सदा सहायता देते रहना है। यज्ञका दान अंग इसी रूपमें अपना काम करता हुआ प्रकट होगा।

यह यज्ञ के तीन अंगों के तीन व्यापार हैं जो कि स्वस्थ यज्ञ शरीरमें होते रहने चाहिए। यदि ये व्यापार होते ही नहीं या ठीक तरह न होकर विपरीत प्रकार से होते हैं तो समझना चाहिए कि यज्ञ शरीरमें कोई रोग है। इन रोगोंका इलाज करना चाहिए जिस से कि शरीर के ये तीनों अंग उपरिनिर्दिष्ट अपने अपने व्यापार (Function) ठीक प्रकार करते रहें।

१५ यज्ञ के उत्तमांग में त्रुटि।

यज्ञाङ्गों में बहने वाला रस जान लेने के बाद तथा यज्ञके प्रत्येक अंगका व्यापार समझ लेने के बाद अब यह सुगमता से जाना जा सकता है कि हम भारतवासियोंके यज्ञ क्यों नहीं चलते। इसका कारण यज्ञ के किसी अंगके कार्य में त्रुटि होना है। ये रोग हमें हटाने पडेंगे, यदि हम भारतमें यज्ञों को चलाना चाहते हैं।

पहले, यज्ञ के प्रथम अंग - देवपूजा - की त्रुटियां देखिए। या तो अपने संगठनों के बडों में हमारी भक्ति नहीं होती (हम उन्हें योंही स्वीकार कर लेते हैं) या हमारी भक्ति बीमार होती है जो कि आज्ञा-पालन के रूपमें प्रकट नहीं होती। म. गान्धीके (जो कि राष्ट्रमहासभाके यज्ञमें देववत् पूज्य हैं) दर्शन करने के लिए सहस्रों लोग आते हैं - उन्हें रातको नींद भी नहीं लेने देते, परन्तु वे न तो खद्दर पहनते हैं और न उन की अन्य आज्ञाओंका पालन करते हैं। इस का नाम देव पूजा नहीं हैं। यह तो घोर देव निन्दा है। पर हम लोगों की अकल में यह बात नहीं आती है। नेताका आज्ञापालन तथा अनुसरण में जिस नियंत्रण, तंत्र निष्ठा की जरूरत है उस का 'क ख' भी हमने अभी नहीं सीखा है। यदि गत वर्षों के स्वराज्य आन्दोलन में (और अबभी) हम राष्ट्रमहासभाकी केवल खद्दर धारण और खद्दर की उत्पत्ति की आज्ञा का जी जान से पालन करते तो अबतक बहुत कृतकार्य हो चुके होते, न जाने कहां पहुंचे होते। पर यहां तो काम शुरू नहीं हुआ। देवपूजा की जगह हम अपना मनमाना करते रहे। एक वक्ता ने बहुत सच कहा था कि लायड जार्ज जैसे मिथ्याचारी, मिथ्यावादी पुरुष के नेतृत्वमें इग्लैण्ड ने महासमरमें विजय पा ली, परन्तु महात्मा गांधी जैसे सच्चे दिव्य पुरुष को पाकर भी भारत वासी कृतकार्य न होसके, इस का कारण है (Organisation) संगठन का अभाव। परन्तु वैदिक शब्दों में मैं कहूंगा कि इसका कारण है "यज्ञ का अभाव, यज्ञ

मेंभी देव पूजा अंग का अभाव " । बिलकुल सैनिकों की तरह आज्ञापालन को न करते हुए अपने को देवपूजक समझना कोरी मूर्खता है जो कि जितनी शीघ्र हट जाय उतनाही अच्छा है । और युद्ध के अवसरपर भोजन की कमी पूरी करने के लिए अंग्रेज लोगों को कहा गया कि अपने घरों के छोटे छोटे आंगनों में आलू बो दो, उन्हों ने बोए और यह मूर्खता युक्त प्रश्न न उठाया कि आंगन की जरा सी भूमि के थोडेसे आलुओंसे क्या लाभ होगा । परन्तु भारतवासी पूछते है कि चर्खे के जरा से सूत से क्या होगा ? कई पूछते हैं मेरे थोडासा कातने से क्या होगा ? केवल पूछते ही नहीं, किन्तु कार्य करना भी नहीं शुरु करते । यह है भेद हम म और यज्ञ का महत्व समझने वाले अंग्रेजों में । वहां बचपन से आज्ञापालन सिखाया जाता है । वहां के लोगों ने आत्मार्पण करते हुए " आज्ञापालन " अङ्ग की साधना की है । वहां कैसे बियेन्का जैसे बालक पैदा होते हैं । आज्ञा के न मिलने के कारण जल मरना तो दूर रहा, हम तो अपने संगठन की आज्ञा को थोडे से स्वार्थ के लिए तोड देते हैं और तोडनेका कारण प्रायः धार्मिक (?) बताते हैं । बहुतों को जरासी बात में अन्तःकरण (Conscience) बोलने लगता है । ऐसे कार्य करते हुए हम सचमुच समझते हैं कि हम धर्म कर रहे हैं, जब कि असल में हम यज्ञ भंग का भारी पाप कर रहे होते हैं । यदि हमने अपनी वर्तमान अवस्थासे उठना है तो हमें यज्ञ धर्म को समझना होगा और अपने अन्तःकरणों को विशाल बनाना होगा । मतभेद होने के कारण आज्ञाभंग का अधिकार प्राप्त कर लेना वहां का धर्म है । वेद में तो संग्रामवाचक शब्द तथा यज्ञवाचक शब्द बहुत कुछ एक ही हैं । इसका एक अर्थ यह समझा जा सकता है कि यज्ञ में संग्राम जैसा नियंत्रण (Discipline) होना चाहिए । संग्राम यज्ञ में यदि सेनापति देव की आज्ञा पालन द्वारा पूजा न की जाय तो यह यज्ञ कैसे चल सकता है । राष्ट्रयज्ञ में यदि राजा की आज्ञाओंका पालन न हो तो राष्ट्र कैसे जिवंत रह सकता है । परन्तु गुलाम भारतवासियों को सैनिकों की तरह बिना "कथं किमर्थं" के आज्ञा पालन करने में गौरव की जगह बन्धन दिखाई देता है । और वह भी अपने बनाए नेता के अपने राजाके आज्ञा पालन में । हमें यह सैनिकीय आज्ञा-पालन भेड चाल दिखाई देता है, इसी लिए हम पराये राजा द्वारा भेडों की तरह हांके जाते हैं । यदि हम अपने बनाए राजा का आज्ञापालन सीख जांय तो हम ही सैनिक हो जांय । ग्रामों में जहां पुरानी पंचायतों का रिवाज बिगडा नहीं है वहां तो अब भी (जो कि बहुत ही बिरले उदाहरण हैं) "पांचों में परमेश्वर " मानकर लोग पंचायत की कठोर से कठोर आज्ञाको भी पालन कर देते हैं. परन्तु साधारण-तया आज कल की सभाओं और सम्मेलनों में देखा जाता है कि सभापति वक्ताको बोलने से बन्द करते हैं, पर वक्ता बोलता जाता है; सभापति चुप होने को कहता है पर लोग शोर करते रहते हैं । बल्कि कई लोग रोके जाने के कारण सभापतिसे नाराज हो जाते हैं । भला, वहां नाराजगी का क्या काम ? इस सब का कारण यह है कि हम सभ्य, साम्मित्य नहीं हुए हैं यज्ञार्ह नहीं हैं घडे हुए नहीं हैं । हमें घड कर अपने आपको यज्ञार्ह बनना चाहिए । पहलेही अपने सभापति को खूब सोच विचार कर चुनना चाहिए, पर जब वह सभापति चुना गया और जब तक है तब तक यदि उस

देव पूज्य का आज्ञापालन न हो तो काम कैसे चल सकता है। यह तो आत्महत्या होगई। अपने यज्ञ का अपने आप नाश करना है। कुटुम्ब यज्ञ में बालक माता पिता के आदेशों को न मानें, गुरु शिष्य यज्ञ में शिष्य गुरु वचनों को न मानें तो इन यज्ञों का क्या हाल होगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक यज्ञ में आज्ञापालन आवश्यक है, इस के बिना यज्ञ का पहला ही अंग नहीं चल सकता। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि अपने नेता का आज्ञापालन अर्थात भक्तिसे, सचे दिलसे उस के पीछे चलना ही देव पूजा है, यज्ञ के प्रथम अङ्ग का कर्म है।

१६ यज्ञ के मध्याङ्ग में त्रुटि।

अब भारत वर्ष के यज्ञोंके मध्याङ्ग की अवस्था सुनिए। यज्ञ का यह मध्यभाग प्रायः सभी संगठनों में बडा होता है, क्यों कि उन में बडे तथा प्रायः छोटे भी थोडे होते है और बराबर वाले बहुत होते है तथा क्यों कि प्रायः सभी संगठनों में बडे और छोटे का सम्बन्ध विशेष अवसरों पर होता है और बराबर का संबन्ध प्रायः सदा रहता है। उत्तमांग से तो यह अवश्यही बडा होता है। अतः इसे ठीक रखना बहुत आवश्यक है। यह ठीक रहे, फिर यदि ऊपर नीचे का भाग कुछ बिगड जाय तो वह शीघ्र ही सुधर सकता है। यह मध्य अंग का महत्व है। अतः मध्य अंग के स्वास्थ्य के लिए संगठन में के सब सभ्योंको परस्पर प्रेमसे जुडे रहना चाहिए और एकोद्देश्य में तत्पर रहना चाहिए। उन सबको जोडने वाली एक वस्तु संगठनका उद्देश्य होता है। जैसे कि भारतीय राष्ट्रमहासभा के सभ्यों को जोडने वाला देश प्रेम है, आर्य समाज सभासदों को जोडनेवाला वैदिक धर्म है, एक संग्राम के सैनिकों को जोडने वाला शत्रुपर विजय पाने का उनका उद्देश्य है, एवं एक शिक्षणालय के छात्रों को परस्पर जोडनेवाली उस शिक्षणालय का विशेष शिक्षण या विद्या होती है। इस जोडने वाले एकोद्देश्य को जब कोई सभ्य भूलता है या इसे गौणकर देता है तभी वह अपने कर्म द्वारा यज्ञ को हानि पहुंचाता है। इस संयोजक वस्तु को वेद में ' यज्ञ तन्तु ' कहा गया है। यह यज्ञ तन्तु कभी नहीं टूटना चाहिए। इसे तन्तु से यज्ञ के सब सभ्य जुडे होते हैं। परन्तु हमारा यह यज्ञतन्तु इतना ढीला होता है कि अन्य छोटी छोटी बातें इसके ऊपर हो जाती हैं और यज्ञ का लोप कर देती हैं। हिन्दु और मुसल्मान आपसमें लडते हैं क्यों कि देशप्रेम के तन्तु से अपने आपको नहीं जोडते, इस यज्ञ तन्तु के सामने अन्य गौण बातों को मुख्यता दे देते हैं और इसी लिए राष्ट्रीय महासभा का यज्ञ छिन्न हो जाता है। दो आर्य समाजी सभासद आपस में ही लडते हैं, वैदिक धर्म का तन्तु उन्हें जोडने में असमर्थ रहता है, क्यों कि वे अन्य वैयक्तिक बातोंको मुख्यता दे देते हैं और फलतः आर्यसमाजके यज्ञ को हानि पहुंचती है। यज्ञ के लिए सब सभ्यों को एकोद्देश्य में तत्पर रह कर, सहोद्योग करना चाहिये, परंतु हम सहोद्योग तब तक नहीं कर सकते जब तक पहले हम एकोद्देश्य से जुड कर एक न हो जांय। इसी लिए अथर्ववेद के सांमनस्य (३ - ३०) सूक्त में जहां " सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा " होने को कहा गया है वहां कहा है कि ' समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि' अर्थात् मैं तुझे एक जूए में जोडता हूं। इस सूक्त में तथा ऋग्वेद केप्रसिद्ध "संगच्छध्वं संवदध्वं" वाले सूक्त में यज्ञके मध्याङ्ग का कार्य बहुत ही अच्छी तरह

बताया गया है । भारतवासियों को यह उपदेश न जाने कब तक समझमें नहीं आवेगा । "सहस्रबाहू पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्" (अथर्व २० - ६-१) यह यदि यज्ञ पुरुष का ही वर्णन नहीं है तो यज्ञ पुरुष का भी तो है हा । क्याही सुन्दर दृश्य हो, जब कि सहस्रों बाहुएं मिल कर एक ही उद्योग कर रही हों । राष्ट्रपति की आज्ञासे यदि राष्ट्र शरीरके सहस्रों हाथ सूत निकालने में ही लग जांय तो क्या हम अपना एक कार्यक्रम पूरा नहीं कर सकते । भारत राष्ट्र - पुरुष के तो ६० करोड हाथ हैं । पर रोना यही है कि हमारी धर्म पुस्तक में चाहे कुछ लिखा पडा हो, पर उस का करना और बात है । हम से यह बनता नहीं कि किसी उच्च प्रेम स प्रेरित हो मिल कर किसी रूपमें जुड जांय । यदि कहीं कहीं जुडते हैं और यज्ञ के " संगति करण " अंग को बनाते हैं तो यह अंग इतना निर्बल या रूग्ण होता है कि इस से 'सहोद्योग' कांपते हुए नहीं के बराबर निकालता है । फूट, नाना प्रकार क भेद ही सर्वत्र दिखाई देते हैं । इन भेदों को भी जोडने वाला यज्ञ तन्तु कहीं कहीं ही टूटा फूटा दिखाई देता है । नानामत तो योरोप में भी पाश्चात्य लोगों में भी हैं। वहां तो पति और पत्नी भी भिन्न भिन्न गिरजों में जाते हैं। वहां के (यथा इंगलैण्ड में) राष्ट्र कार्य में भी बहुत से दल हैं । पर वे राष्ट्र कार्य का सदा ऐकमत्य से ही करते हैं । और बातों में चाहे कितना मतभेद रहे पर वे देश कार्य के लिए सब एक हैं। अतः उनका अपना अपना राष्ट्र पुरुष संसार में एक बलवती सत्ता रखता है । उन के देश प्रेम का तन्तु अन्य बातों से नहीं टूटता । गत महायुद्ध में इंग्लैण्ड वासियों ने कितना मिलकर काम किया, उस की कथा हमारे लिए आश्चर्य कर है परन्तु जर्मन लोगों का सहोद्योग इन से भी बढकर था । उन्हों ने तो मानो अक्षरशः "संगच्छध्वं संवदध्वं " का पालन किया था । फिर भी उन की हार क्यों हुई यह और बात है । इस का भी वर्णन आगे आजायगा । यह तो स्पष्ट है कि हम में तो इतने जोर से लडने की भी सामर्थ्य नहीं है। उन को पुरुष बनाने वाली और सामर्थ्य देने वाली सम्मेलन शक्ति हमारे लिए सदा ही अनुकरणीय है। अस्तु। सारांश यह है कि यज्ञ का मध्य अंग (जो कि बहुत बडा भाग होता है) तभी ठीक तरह चल सकता है जब कि उस के सब सभ्य एकोद्देश्यता में तत्पर होकर सहोद्योग करते रहें, यही इस अंग के स्वास्थ्य का चिन्ह है।

१७ यज्ञ के आधाराङ्ग में त्रुटि ।

इसी प्रकार यज्ञ का " दान " अंग जो कि आधार अंग है मुर्दा हो जायेगा, यदि हम अपने संगठन में निर्बलों को, छोटे भाइयों को सदा सहायता प्रदान न करते रहेंगे । छोटों के साथ अपना संबन्ध ठीक रखने के लिए उन्हें अपने साथ जुडा रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन्हें धन देकर, बल देकर, ज्ञान देकर जो उन की कमी हो उसे पूरा करते रहें । संगठन के, यज्ञ के ऊंचे लोग जब घमण्ड में आकर, अपनी शक्ति के नशे में मस्त होकर अपने छोटे हीन भाइयों को भूल जाते हैं और यज्ञ शरीर में करुणा के जीवन रस का प्रवाह बन्द हो जाता है तो अधार से ही यज्ञ का अंग हो जाता है । क्या हम नहीं देखते कि भारत के पददलित अछूतों के कारण भारत का राष्ट्रीय यज्ञ बीच में ही पडा हुआ है । इन बिचारों की दशा किन्हीं स्वामिहीन पालतू पशुओंसे भी अधिक शोचनीय है, परन्तु भारतीय हिन्दुओं के हृदय इस पर भी नहीं

पिघलते । देश और जाति के इन आधारों को जब तक हम अपने सर्वविध दान कर्म से तृप्त न कर लेंगे तब तक हमारा हिन्दू संगठन और देश संगठनका यज्ञ आगे नहीं बढ सकता । इसी प्रकार हमारे देश में ज्ञान में छोटे पुरुष बहुत हैं, हम में अक्षर ज्ञान ही बहुत थोडा है, जहां अन्यदेशों में ९५, ९९ प्रतिशतक शिक्षित होते हैं वहां इस देशमें ५ प्रतिशतक शिक्षित कहे जा सकते है। इस ज्ञान दान की कमी के कारण हमें कितनी कठिनाइयां हैं यह सब भारत के यज्ञप्रिय पुरुष अनुभव करते हैं । परन्तु इस से भी पहले तो धन का दान आवश्यक है,क्योंकि इस देश में निर्धनता के कारण भूखे मरने वालों की संख्या हृदय विदारक है भूखे को ज्ञान और उपदेश तो पीछे चाहिए, पहले भोजन चाहिए । इस देश में दस लाख मनुष्य प्राणी ऐसे हैं जिन्हें कि एकवारही सूखी रोटी नसीब होती है और एक दुर्भिक्ष में लाखों आदमी मर जाते हैं । बहुतों को वास्तव में इन संख्याओं पर विश्वास नहीं होता है, अत एव वे निश्चिन्त रहते हैं । परन्तु करुणा मूर्ति महात्मा गांधी इसी चिन्ता से चर्खेपर पागल हुए हुए है और चर्खे के प्रचार की इतनी आवश्यकता अनुभव करते हैं। चर्खा प्रचार अपना अन्यफल पीछे लायगा, पहिले यज्ञ के तीसरे 'दान' आधाराङ्ग को चलता करने के लिये इस में प्राण डालेगा । अस्तु अभिप्राय यह है कि प्रत्येक संगठन में जो जिस बात में बडा हो उस का कर्तव्य है कि अपने से छोटों को वह वस्तु देने के लिए न केवल सदा तत्पर रहे, किन्तु उसकी कमी को स्वयं यत्न से जान कर पूरा करता रहे । एवं ज्ञानियों को अपना ज्ञान देना चाहिए और बलवानों का अपने बल से निर्बलों की सहायता करनी चाहिए । धनियों को अपना धन छोडना चाहिये और शूद्रों को शारीरिक श्रम की अपनी सेवा का दान करना चाहिए । ठीक तरह काम करते हुए यज्ञ के आधारांग का यही स्वरूप है ।

यह यज्ञ का आधार अंग है । जिस संगठन में छोटे आवश्यक दान पाकर तैयार नहीं होते रहते वह संगठन समझना चाहिए कि जड से सूख रहा है । भारत ने छोटों की उपेक्षा की अतः छोटे बढते गए और सामूहिक रूप से सारा देश ही हर एक बात में छोटा रह गया है । पाश्चात्यों के राष्ट्र यज्ञ में यदि कोई त्रुटी है तो वह आधाराङ्ग में ही है । वहां सब बातों में नहीं तो धन में तो बडों ने छोटों की उपेक्षा की है । वहां धनियों और निर्धनों का बहुत फर्क है। अत एव वहां 'सोशियलिझम्'बौल्शेविझम' (Socialism, Bolshevism) आदि रोग अथवा रोग को दूर करने की स्वाभाविक चेष्टाएं (जो कि वास्तव में सब रोग होते हैं) उत्पन्न हुई और उन से सारे राष्ट्र शरीर को दुःख भोगना पडा गत महासमर में रूस को इसी विपत्ति के कारण युद्ध से जुदा होना पडा तथा जर्मनी शिथिल पड जाने के कारण भी उस के अन्दर साम्यवादियों (Socialists) का जोर हो जाना था । अतः इस आधाराङ्ग का हमें विशेष ध्यान रखना चाहिए, विशेषतया हम में से उन भाइयों को जो हरबात में पाश्चात्यों का अनुसरण करना लाभदायक समझते हैं । अस्तु ।

आशा है अब पाठक बहुत कुछ समझ गए होंगे कि हमारे यज्ञ किन किन त्रुटियों के कारण असफल रह जाते हैं।

१८ यज्ञ के देव और असुर

परन्तु ये त्रुटियां क्यों होती हैं, और इनको हटाया कैसे जा सकता है ? इसका उत्तर है कि यज्ञ के देवों

और असुरों में सदा यह होता रहता है जब असुरोंका पगड़ा भारी होता है तब यज्ञ में उतनी त्रुटि रह जाती है और जब देवों की विजय होती रहती है तब यज्ञ पूरा पूरा चलता है; अतः त्रुटिओं के हटाने का उपाय है कि देवों की ही लगातार विजय रखी जाय। ये देव असुर कहीं बाहर नहीं हैं, ये अन्दर हैं और हमारे हृदय के अन्दर है। देवासुर संग्राम की रणस्थली यज्ञकर्त्ता मनुष्य का हृदय ही है। यदि यह बात पाठकों को कुछ विचित्र लगती हो तो उन्हें भगवद्गीता के १६वें अध्याय में दैव और आसुर संपदोंका वर्णन पढ लेना चाहिए। अस्तु। इस यज्ञ में देव कौन हैं जिनसे कि यज्ञ बढता है और असुर कौन हैं जिनसे कि यज्ञ की रक्षा करनी चाहिए यह पाठक कोष्टक के चौथे पांचवें स्तम्भ में देखेंगे।

यज्ञ के उत्तमांग में 'श्रद्धा' देवता है और इसके विरोधी असुर हैं अज्ञान, अभिमान, सन्देह, काम आदि। देवपूजा अंगको निर्विघ्न चलाने के लिए हमें अपने हृदयों में 'श्रद्धा' को आसनारूढ करना होगा। यज्ञ के बडों में, नेता में यदि हमें श्रद्धा नहीं तो उसका पूजन, उसका आज्ञापालन आदि कर्म कैसे हो सकता है। जहां नेताको चुनना हमारे हाथ में है, तब अवश्य हमें ऐसा ही पुरुष चुनना चाहिए जिसमें हमारी श्रद्धा हो। दौर्भाग्य से किसी समाज में यदि कोई भी पुरुष श्रद्धनीय नहीं है तो वहां यज्ञ बन ही नहीं सकता। प्रत्येक दशामें अपने बडों में श्रद्धा आवश्यक है। नेता लोग कई बार ऐसे काम करेंगे जो कि हमें अच्छी तरह समझ में न आवे तो उनमें एक दम श्रद्धा छोड देना बडी मूर्खता होगी। गुरु शिष्य यज्ञ में शिष्यों को या गृहस्थ यज्ञ में पुत्रों को बहुत बार अपने स्वाभाविक अज्ञान के कारण अपने आचार्य या माता पिता की बातें बुरी और अहित कर लगती हैं परन्तु यदि वे इससे उनमें श्रद्धा छोड कर मनमाना करें तो कितना अनर्थ होगा। ऐसी अवस्था में उन्हें यही उचित होता है कि वे अपने बडों के पास जावें और नम्र होकर अपना अज्ञान दूर करने का यत्न करें; न कि 'श्रद्धा' देवता की शरण छोड दें। 'श्रद्धा' ही बालकों अज्ञानियों, निर्बलों, असहाया अर्थात सब छोटों की एकमात्र रक्षिका देवता है। परन्तु इस देवता को पदच्युत कर अपना राज्य स्थापित करने के लिए अज्ञानादि असुर सदा जोर करते रहते हैं श्रद्धा को स्थिर रखने की इच्छावाले यज्ञ प्रिय को सदा इस से लगातार लडना पडता है। अज्ञान ऐसा भ्रमाता है कि छोटे को अपना हित अहित दिखाई देने लगता है। सन्देह आकर आज्ञा पालन नहीं करने देती। 'अभिमान' के वश हो जाता है तो कहता है कि "क्या यही सब कुछ जानता है "यह बात तो स्पष्ट हानिकारक है" अभिमान का रंग और चढता है तो वह पूजा की जगह देव का तिरस्कार करने में नहीं झिझकता। काम' अर्थात् अपने विषय की तीव्र इच्छा उसे और भी कर्तव्याकर्तव्य विचार के अयोग्य बना देती है।

इस प्रकार श्रद्धा का आसन डोल जाता है। इसे स्थिर रखना ही यज्ञ कर्ता की वीरता है। जिस पुरुष की हृदयस्थली पर इस युद्ध में सदा 'श्रद्धा' देवता की ही विजय रहती है वही पुरुष यज्ञ के उत्तमांग में सम्मिलित होनेके योग्य है।

यज्ञके मध्यमांग में 'साम्मनस देवता है जोकि इस अंगमें सम्मिलित सब पुरुषों को अपने हृदयों में बिठलानी चाहिए। परन्तु इसकी जगह छीनने के लिए ईर्ष्या आदि असुर चारों तरह सदा चक्कर लगाते रहते हैं। इन से सावधान रहना

चाहिए । यदि 'ईर्ष्या ' का हृदय राज्य में थोड़ासाभी स्थान मिल गया तो वह हमारी आंख ऐसी फेर देती है कि हमें अपने भाई की बढ़ती देखकर आनन्दकी जगह दुःख होने लगता है । अब प्रेम की जगह 'द्वेष' असुर ले लेता है । जहां इन दो असुरों का प्रवेश हुआ तो 'क्रोध ' महासुर की विकराल मूर्ति अपना काम दिखाने लगती है और भारत माताके दो पुत्र आपस में एक दूसरेका सिर फोड़ने लगते है क्यों कि वे हिन्दु और मुसलमान हैं । धीरे धीरे इतनी आसुरी माया छा जाती है कि वे भाई एक दूसरों को धोखा दे देकर नाश करना चाहते है और 'द्रोह' की फौजें आ खड़ी होती है । इस प्रकार ' यज्ञ ' नष्ट भ्रष्ट हो जाता है । पाठक अपने अपने संगठनों में स्वयं इस देवासुर संग्राम को अनुभव करें। यहां तो यही कहना है कि युद्ध में 'साम्मनस' देवता की ही विजय होनी चाहिए । कोई चाहे कितना यत्न करे अपने साथियों को कभी न छोड़ना चाहिए । अपना साथी चाहे रूखा प्रतीत हो, प्रेम न रक्खे, हानि भी पहुंचाये तो भी उससे मन मिलाप रखना चाहिए । वैयक्तिक हानि चाहे कितनी हो, पर यज्ञतन्तु को न टूटने देना चाहिए । अन्त में निश्चयसे " साम्मनस " देवकी ही विजय होगी । यदि हम विचारेंगे कि "इसकी वृद्धि में तो मुझे प्रसन्न होना चाहिए, यह मुझे कष्ट देगा तो वह भी मैं प्रेम से सह लूंगा, अन्ततः यह मेरा भाई ही है" तो इन भावना ओं द्वारा हमारे पवित्र उद्देश्य प्रेम के तेज से ईर्ष्या द्वेष आदि सब असुर भस्मीभूत हो जाएंगे और यज्ञ निर्विघ्न चलता हुआ बढ़ता जायगा ।

एवं यज्ञ के तीसरे अङ्ग के देवता का नाम "ओषधी या सोम" कहा जा सकता है । इनका अर्थ है दूसरों के कष्ट निवारण करने या दूसरों की कमी पूरी करके तृप्त करने वाली देवता । इसका तात्पर्य है हृदय में सहानुभूतिका राज्य होना । परन्तु इस राज्य के मुकाबले में विरोध का झण्डा खड़ा करने वाले क्रूरता आदि राक्षसभी विद्यमान है । क्रूरता राक्षसी जब आती है तो हृदय में से दयास्रोत निकलना बन्द हो जाता है । इसी लिए हिन्दु चमारोंके ऊपर से गालियां देते हैं, इसकी जगह कि उन्हें गड्ढों का सड़ा पानी पीते देखकर तरस खावें । इस क्रूरता राक्षसी को और पोषण मिलता है जब कि 'अन्याय ' साथ मिल जाता है, क्यों कि "अन्यायासुर" हमें देखने ही नहीं देता कि हमारे छोटे भाइयों की बुरी दशा है । देश में विरले ही पुरुष है जो कि अपने देश की गरीबी आदि कमियों को अनुभव करते हैं । 'मद' भी आजाय तब तो कहना ही क्या है । तब तो पड़ौसी घरका आर्तनादभी सुनाई नहीं देता और पैरों तले रौंदे जाते अपने भाई की चीखें निकलवाना उनका मनोविनोद होता है । ऐसे ' मद ' मस्तों की भी हमारे देश में कमी नहीं है । परन्तु ' लोभासुर ' के वश होने वाले तो इस देश में बहुत से भले आदमी हैं जो कि अपने छोटों को कुछ देने की जगह उन से रिश्वतें लेते हैं, बेगार लेते हैं और न जानते क्या छीना झपटा करते हैं । इस प्रकार हमारे हृदयों में से ' सोम ' देवता का राज्य लगभग सब छिन जा चुका है जिसे कि हमने फिर स्थापित करना है यदि हम अपने देश के यज्ञों का समूल नाश नहीं कर देना चाहते हैं । हमें इस देवता की विशेष आराधना करनी चाहिए और अपने में करुणा, दया का पूर्णतया उदय करना चाहिए, जिससे कि क्रूरता, अन्याय, लोभ, मद आदि असुरों का सर्वथा पराजय होकर

हृदय में सहानुभूति का राज्य जम जाय । तभी यज्ञ के आधारांग की रक्षा हो सकती है ।

इस प्रकार अब तक हम यह समझ गए होंगे कि यदि यज्ञ के इन तीनों अंगों में उपर्युक्त तीनों देवताओं का निर्विघ्न राज्य रखा जाय तो यज्ञ स्वयमेव ठीकठीक चलता रहेगा । परन्तु इन देवताओंका राज्य स्थिर करने का उपाय क्या है यह भी बात हमें जान लेनी चाहिए ।

१९ यज्ञ का प्राण ।

यज्ञ की सब से आवश्यक वस्तु का वर्णन तो अभी रहता ही है । यज्ञ के इन बाधक असुरोंका निरन्तर हनन करने वाला अस्त्र क्या है ? देवों का राज्य स्थिर रखने वाली वस्तु क्या है ? अथवा यज्ञ के देवपूजादि अंगों को निरन्तर जीवित रखने वाली वस्तु क्या है ? यह है आत्मबलिदान (Sacrifice) स्वार्थत्याग । यह यज्ञका प्राण हैं । जैसे प्राण शरीरमें सब से बडा देवता है, वैसेही यज्ञ शरीर में सब देवों का महादेव यही 'बलिदान' है । इस लिए इसके उत्क्रान्त होने से श्रद्धा आदि सब देव उत्क्रान्त हो जाते है और इस के स्थापित होने से स्थापित हो जाते हैं । इसे यज्ञ की आत्मा भी कह सकते है । यह यज्ञ का सब कुछ है । क्यों कि इस के बिना यज्ञ केवल मृतवत् है, लाश है । इसी लिए कई विद्वान् यज्ञ शब्द का अर्थ ही 'बलिदान' (Sacrifice) किया करते हैं । यह बहुत हदतक ठीक है, क्यों कि बलिदान के बिना यज्ञ कुछ देर भी जीवित नहीं रह सकता । जैसे कि जीवित पुरुष में प्राण श्वास प्रश्वास के रूप में निरन्तर चलती रहती है और पुरुष को जीवित रखता है, एवं यज्ञ के जीवन के लिए भी यह आवश्यक है कि उस में 'बलिदान' निरन्तर चलता रहे । इसी लिए बाहर के अग्नि होत्र आदि यज्ञ में भी एक एक मंत्र पढ कर 'स्वाहा स्वाहा' करते हुए ही यज्ञ चलाना होता है । यह'स्वाहा'ही यज्ञ की जान है (देखो स्तंभ ६)

यज्ञांगों की इतनी मीमांसा पूर्व प्रकरणों में हो जाने के बाद अब पाठक गण प्रत्येक अंग में बलिदान के प्राबल्य को स्वयं सुगमता से देख सकते हैं । (१)उत्तमांग में जब आज्ञा पालन तथा अनुसरण का व्यापार होता है । तब प्रत्येक व्यापार में कुछ न कुछ बलिदान करना होता है । उस एक आज्ञप्त इच्छा के अतिरिक्त शेष सब इच्छाओं का, शेष सब बातों का बलिदान करना होता है । प्रायः अपने सुख या आराम की इच्छा, अपने किसी विषय की इच्छा इस आज्ञप्त इच्छा के विरोध में खडी होती है और इस के खडे करने वाले होते हैं हमारे पूर्व परिचित असुर । पर यह खूब समझ लेना चाहिए कि इस आज्ञप्त इच्छा के सामने अन्य सब विरोधी इच्छायें हीन हैं, पशु हैं, विघ्न हैं, इन को तुरन्त बलि चढा देना चाहिए । यदि हम इच्छा रूप में विचार रूप में विद्यमान इन को बलि न कर देंगे तो इन के कर्म रूप में आजाने पर इन का बलिदान करना बडा कठिन हो जायगा और यज्ञ को हानि तो पहुंच ही जायेगी। उदाहरणार्थ कभी " अज्ञान " और " अभिमान " के असुर यह विरोधी विचार खडा करते हैं कि " यह आज्ञा अशुद्ध है, सेनापति की इस बात से अधिक अच्छी बात तो फलानी है, क्या हम में अकल ही नहीं है.. " । परन्तु सच्चा याज्ञिक इन सब विरोधी विचारोंको श्रद्धा की अग्निमें स्वाहा कर देता है और इस आहुति द्वारा श्रद्धा की अग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो जाती है । कभी मन कहता है " सभा की यह बात इतनी अशुद्ध है

कि मेरे अन्तःकरण की आवाज इसे करने से रोकती है " । परन्तु पीछे ज्ञान होता है कि यह भी " अज्ञान " असुर की करतूत है और वह अपने अन्तःकरण की झूठी आवाज का भी बलिदान कर देता है। इस प्रकार यदि विचारावस्था में ही पशु भावोंका स्वाहा होता जाय तो यह स्वाभाविक तौर पर बढता जाता है। यज्ञ के प्रत्येक अङ्ग का जीवन यज्ञ कर्ताओंकी बलिदान शक्ति पर निर्भर है। वे निरन्तर बलिदान कर सकते हैं या नहीं इस बात पर निर्भर है। प्रत्येक आज्ञापालन में और अनुसरण में भिन्न भिन्न प्रकार के विरोधी विचार आते रहेंगे उनका निरन्तर स्वाहा करते रहना ही यज्ञ को जीवित रखना है। एकवार जोश में आकर बलिदान करना और बात है तथा निन्तर बलिदान करना और बात है। दूसरी अवस्था ही यज्ञ का जीवन है। पहिली अवस्था तो किसी कृत्रिम उपायों से थोडी देर के लिए श्वास चला देने के तुल्य है। हमने भी असहयोग क दिनों में बलिदान किए हैं, कइयों ने राष्ट्र की आज्ञा पाकर करोडों की आमदनी और भोग-विलास का बलिदान कर दिया, हजारों ने जेलमें जाकर अपने घर के सुखोंका बलिदान कर दिया। किन्तु यदि यह सब हमारा बलिदान स्थिर नहीं है तो यह हमारे राष्ट्रयज्ञ के जीवन का चिन्ह नहीं है। हमारा राष्ट्रयज्ञ यदि जीवित है तो उस में अब (अब कि जोशका काम नहीं है) ऐसे पर्याप्त पुरुष होने चाहिए जो कि देश के लिए फकीर बन जानेके उद्यत हों, ऐसे लोग अधिक होने चाहिए। जो कि राष्ट्र आज्ञा से चर्खा कातने के लिये आलस्य का बलिदान, अपने गप्प मारने के समय का बलिदान, सीखने का कष्ट उठाने के रूप में बलिदान और नियमपूर्वक न कातने में जो सुविधा होती है उसका बलिदान करनेको उद्यत हों और ऐसे लोग तो सभी होने चाहिए जो कि विदेशी वस्त्र पाहिनने के सुख का बलिदान कर सकते हों। जीवन तो सतत बलिदान से ही चलता है, देवों की पूजा करने के प्रकरण में वेद में बहुत जगह " हविषा विधेम " यह पाठ आया करता है। इसका अर्थ यह है हम उस देवकी त्याग द्वारा पूजा करते हैं। कितना स्पष्ट है कि देव पूजा के लिए हवि की, त्याग की जरूरत है। कम से कम वेदविहित देवपूजा त्याग के विना नहीं हो सकती। यह हुई देवपूजा अंग की चर्चा। (क्रमशः)



छूत और अछूत ।

या

चारों वर्णों का व्यवहार ।

भाग १ ला ।

विषयोपन्यास ।

ॐ येन देवा न वियन्ति, नो च
विद्विषते मिथः, ॥
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे, संज्ञानं
पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥
अथर्ववेद अ. ३। ३० ॥

" जिससे विद्वान लोग विभक्त न हों और जिससे वे एक दूसरे का वैर न करें, ऐसा (पूज्य और उत्तम) ज्ञान हम तुम्हारे घरके तथा सब लोगों को देते हैं ।"

१ " हे दयालु परमेश्वर ! एकता को बढाने वाला और द्वेष का नाश करने वाला उत्तम ज्ञान जो तूने लोगों को दिया है, वह सारी जनता को मिले और सद्बुद्धि तथा बन्धुभाव बढे । सब लोगों के अंतःकरण में एक दूसरे के प्रति प्रेम की वृद्धि होवे, और इससे सहानुभूति बढकर लोग सार्वजनिक उन्नति कर लेने के योग्य होवें ।"

२. इस मातृभूमि में, इस पूज्य भारतवर्ष में अधिक नहीं तो ढाई हजार वर्षों से भिन्न भिन्न जातियों का जन्मसिद्ध उच्चनीच भाव और इसीकी अनुगामी छूत अछूत जारी है । इतिहासका ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से मालूम होगा कि जैसे जैसे हम प्राचीन काल की ओर दृष्टिक्षेप करेंगे वैसेही हमें इस भेद भाव की मात्रा कम दिखाई देगी । इसी प्रकार जैसे जैसे हम आधुनिक काल की ओर बढेंगे वैसे ही उसकी मात्रा बढती हुई दिखाई देगी ।

३ छूत अछूत का व्यवहार और जन्मसिद्ध उच्चता और नीचता का विचार हमारे भारतवर्ष में किसी विचित्र घटना के कारण चल पडा । ऐसा विचार और किसी देश में नहीं दिखाई देता । सनातन धर्म में जो छूत अछूत का व्यवहार है वह ईसाई और इसलामी में नहीं दिखाई देता । भारत निवासी बौद्ध धर्मियों में इसका कुछ थोडा प्रचार है, पर भारतवर्ष के बाहर जिन देशों में बौद्ध धर्म जारी है उनमें इसका नाम निशान तक नहीं दिखता । बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रंथों से इस बात का पता नहीं चलता कि सब मानव संसार को अपने धर्म में लाने की चेष्टा करने वाले भगवान बुद्ध को यह प्रथा पसंद थी । इस पर से निश्चित रूप से कह सकते हैं कि असली बौद्ध धर्म को यह प्रथा मान्य नहीं थी । यदि हम कहें कि भारतनिवासी बौद्धधर्मियों में जो छूत अछूत का विचार है वह उनके हिंदुओं के सन्निध रहने का फल है तो अनुचित न होगा । पुराने ढंग पर चलने वाले पारसियों में धर्म कार्यों के समय छूत अछूत का कुछ विचार रहता है । परन्तु ईरान में रहने वाले पारसी इन नियमों का पालन नहीं करते । उन लोगों में छूत अछूत का व्यवहार करीब करीब बिलकुल नहीं है । भारतीय पारसियों पर जैसी हिन्दुओं के निकट रहने से उनकी रीति रस्मों का प्रभाव पडा है वैसे ही ईरान के पारसियों पर मुसलमानों की रीतिरस्मों का प्रभाव पड़ा है । इससे यह

जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं पाया जाता कि पारसी लोग इस व्यवहार को शुरू से मानते थे। तिस पर भी यदि उनके धर्म ग्रन्थों का, दोनों स्थानों के पारसियों के रीतिरस्मों का और पारसी लोगों में 'कालानुसारित्व' (काल के अनुसार बतावे)का जो विशेष गुण है उसका विचार करें तो मालूम होगा कि उन लोगों में छूत अछूत का वैसा व्यवहार कभी भी न था जैसा कि आज हिन्दु लोगों में है। भारत को छोड कर और किसी भी देश में जैन धर्म का प्रचार नहीं है; और उनकी सामाजिक रहन सहन पर हिन्दुओं का प्रभाव पडा है। इस से उनका स्वतन्त्र रीति से विचार करने की आवश्यकता नहीं है। शिंतो, कानफ्यु-शियन आदि धर्मों में छूत अछूत के विचार का अत्यन्त अभाव है। तात्पर्य यह है कि जैसे इस छूत अछूत का प्रचार दूसरे किसी देश में नहीं है वैसे ही वह दूसरे किसी धर्म में भी नहीं है। इसकी उत्पत्ति और इसकी वृद्धि हिन्दुस्थान में और खास कर हिन्दु धर्म में ही हुई है। इसी कारण से इसका सूक्ष्म विचार जैसे हिन्दु धर्म के ग्रन्थों में दिखाई देता है वैसे वह दूसरे धर्म ग्रन्थों में नहीं पाया जाता।

(४) इस प्रकार यद्यपि छूत अछूत का प्रचार सर्वत्र है और हर एक काम में वह न्यूनाधिक मात्रा में दिखाई देता है तथापि भारत के सब स्थानों में एकही नियम के अनुसार वह नहीं पाया जाता। साधारण रीति से कह सकते हैं कि ज्यों ज्यों उत्तर की ओर जाते हैं त्यों त्यों इसका प्रचार कम दिखाई देता है और ज्यों ज्यों दक्षिण की ओर जाते हैं इसका प्रचार अधिक तीव्र होता जाता है। यह बात सच है कि भारत वर्ष के सनातन धर्म का वह एक मुख्य अंग है। तो भी भिन्न भिन्न प्रान्तों में उस में भिन्नता पाई जाती है। छूत अछूत के जो नियम महाराष्ट्र में दिखाई देते हैं वे कर्नाटक और मद्रास में नहीं दिखाई देते और जो नियम इन स्थानों में जारी हैं वे बंगाल और पंजाब में नहीं हैं। किसी किसी स्थान में इसकी तीव्रता नजर आती है और किसी किसी स्थान में वह सूक्ष्म रूप में पायी जाती है। इस कारण से इसकी ऐसी व्यापक परिभाषा बनाना कि जिसमें सब प्रांतों की छूत अछूत सम्मिलित हो, कठिन काम है। दूसरे धर्म में और दूसरे देश के लोगों को यह बात बिलकुल अनोखी है। इससे इसका ऐसा लक्षण बताना कि जिससे वे लोग इसे ठीक ठीक जान लें करीब करीब असम्भव है।

५ प्रत्येक प्रान्त में छूत अछूत के विचार भिन्न भिन्न हैं और कहीं कहीं परस्पर विरुद्ध भी हैं। तथापि लोगोंको अपने प्रान्त के विचार धर्म के अनुसार और उस से भिन्न विचार धर्म के विरुद्ध जान पडते हैं। धर्म ग्रन्थों के अनुसार जो जातियां छूत हैं वे भी कई प्रान्तों में अछूत समझी जाती हैं और यदि वहां के लोगों को धर्मग्रन्थ का प्रमाण बताने की चेष्टा की जाय तो 'शास्त्राद् रूढिः बलीयसी' इस लोकोक्ति के अनुसार उस प्रमाण को मानने के लिये वे तैयार नहीं होते। इस परिस्थिति में जहां स्वेच्छासंचारी रूढि का शास्त्र-वचनों की अपेक्षा अधिक मान है वहां ऐसी परिभाषा बनाना जिसे सब लोग मान लें कठिन काम है। तब भी साधारण रीति से कहा जा सकता है कि (१) रूढि, (२) देश का आचार, (३) बूढों के ख्यालात और (४) ग्रन्थ का प्रमाण जिनका आदर करता है वे छूत हैं और जिनका निरादर करता है वे अछूत हैं। आज कल छूत अछूत का जो स्वरूप है उसकी ओर ध्यान देवें, तो मालूम होगा कि पहले प्रमाण की अपेक्षा दूसरा प्रमाण गौण समझा जाता है।

परंतु यदि यथार्थ प्रमाण और अप्रमाण देखा जाय तो स्मरण रखना चाहिये कि दूसरा गौण नहीं है पहलाही गौण है । विचार की सुगमता के लिये यदि छूत अछूत के चार विभाग करें तो वे इस प्रकार होंगे :–

(१) जन्म ।
(२) परिस्थिति ।
(३) शुद्धता ।
(४) संस्कार ।

इन चार बातों को ध्यान में रख कर छूत अछूत का विचार समाज में किया जाता है। साधारण लोगों की समझ के अनुसार, वर्तमान स्थिति में, इन चार बातों में उत्तरोत्तर अधिकाधिक गौणता आती जाती है । पर यदि युक्ति, विचार और शास्त्र के वचनों को देखा जाय तो उपर्युक्त बातों में अधिकाधिक प्रधानता माननी पड़ेगी । अब यदि इन चारों का मेल पहिले की चार बातों से करना हो तो बहुत से भेद बनेंगे ! वे कितने होंगे यह जानना अपनी अपनी कल्पना शक्ति पर निर्भर है। उनका विस्तारसे विवरण करना व्यर्थ है ।

(१) जन्म ।	(१) रूढि ।
(२) परिस्थिति।	(२) देशका आचार।
(३) शुद्धता ।	(३) वृद्धों के ख्यालात।
(४) संस्कार ।	(४) ग्रन्थों के प्रमाण।

६. इन मुख्य भेदों की ओर ध्यान देने से छूत अछूत का कुछ ज्ञान हो जावेगा। इसका थोड़ा खुलासा करने की आवश्यकता है ।

(१) कोई जाति जन्म के कारण दूसरी जाति से नीच और अछूत समझी जाती है; और कोई जाति जन्म ही से उच्च और छूत समझी जाति है । इस भेद के लिये उनकी शुद्धता, उनके संस्कार या उनकी परिस्थिति का ख्याल नहीं किया जाता, केवल उनके जन्म पर ही ध्यान दिया जाता है । जैसे–ब्राह्मण जाति जन्म से ही ऊँची समझी जाति है और चमार, डोम, चण्डाल आदि जातियां जन्मही से नीची समझी जाती हैं । नीच जाति के लोग यदि शुद्धता और स्वच्छता से भी रहें और उनकी हालत भी अच्छी होवे तब भी केवल इसी लिये कि उनका जन्म नीच जाति में हुआ है वे नीच और स्पर्श के लिये अयोग्य समझे जाते हैं !

ब्राह्मणादि उच्च जातियां सदा के लिये स्पर्श करने योग्य समझी जाति हैं और चमार, चण्डाल आदि जातियां सदा के लिये अयोग्य समझी जाती हैं । इन जातियों का स्पर्श उच्च जातियों से कभी भी सहा न जावेगा । इन उच्च और नीच जातियों के लोगों को छोडकर और भी कई जातियां हैं (जिन्हें मध्यम वर्ग की जातियां कह सकते हैं) जो सिर्फ कुछ बातों में स्पर्श के लिये अयोग्य समझी जाती हैं । तेली, पन्सारी, बढई, लुहार आदि जातियां मध्यम जातियां हैं । ये लोग यदि शिक्षित हों, धनवान हों अथवा अन्य किसी कारण से उनकी अच्छी दशा हो, तो वे आपस में सम्मिलित हो सकते हैं, सभामें ब्राह्मण के साथ बराबरी से बैठ सकते हैं, या ब्राह्मण के घर विवाह में सम्मिलित होने वाले महिमानों के साथ एक ही स्थान में बैठ सकते हैं । परन्तु चमार आदि का ऐसा हाल नहीं है । किसी भी कारण से उनकी अवस्था मध्यम जातिके लोगों की सी स्पर्श करने योग्य नहीं हो सकती । तात्पर्य यह कि जन्म परसे निश्चय किये जाने वाली जातियों के उच्च, नीच और मध्यम तीन भेद किये जा सकते हैं ।

मध्यम जाति के लोग ऊँची जाति के लोगों से किसी किसी समय पर मिलजुल सकते है, पर कोई कोई समय ऐसे हैं जब कि इन जातियों का भी

संबंध ऊँची जातियां बर्दाश्त नहीं कर सकतीं। जैसे– भोजन के समय ब्राह्मण समाज में मध्यम जातिका मनुष्य प्रवेश तक नहीं कर सकता, पंगत में बैठ नहीं सकता, तब स्पर्श की बात तो बहुत दूर है। रसोई बनाते समय चौके में मध्यम जातिके मनुष्य का आना ही रसोई को अपवित्र बना देता है, तब उसका स्पर्श उसे अपवित्र करेगा इसमें आश्चर्य ही क्या? यह बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है कि नीच जाति का स्पर्श किसी भी समय किसी भी ऊँची जाति के मनुष्य को बर्दाश्त न होगा। वर्तमान परिस्थिति इस प्रकार है।

(२) एक ही जाति के लोगों में से कोई कोई, परिस्थिति के कारण-खास कर ऊँची जातियों में- स्पर्श करने योग्य और कोई कोई अयोग्य माने जाते हैं। जैसे- सूतक में अर्थात् जब किसी के घर का कोई संबंधी मर गया हो तब वह मनुष्य दूसरों के लिये कुछ समय तक अस्पृश्य हो जाता है। मध्यम और नीच जातियों में भी यही नियम प्रचलित है। लाश का स्पर्श भी इसी प्रकार अशुद्ध समझा जाता है। ऊंची जाति की लाश उसी जाति के लोगों तक को स्पर्श करने योग्य नहीं होती। उसे छूते ही स्नान करने की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार अछूत जातियों का स्पर्श होने से स्नान करना पडता है, उसी प्रकार जिसके निकट संबंधी की मृत्यु हो गई हो उसको या मुर्दे को स्पर्श करने से स्नान करने की आवश्यकता होती है। ऊपर बतलाए हुए उदाहरणों में जाति के संबंध से आने वाली अछूत बहुत ही थोडी है, परन्तु उनमें अछूत परिस्थिति के कारण आ जाती है। एकही जाति के लोग जो थोडे ही समय पहले एक दूसरे को छू सकते थे परिस्थिति बदलने पर अछूत बन जाते हैं। अछूत का यह प्रकार परिस्थिति के कारण कुछ समय के लिये रहता है।

(३) शुद्धता के कारण भी होने वाला छूत अछूतका एक प्रकार है जो महाराष्ट्र तथा मद्रास की ओर विशेष रूपसे प्रचलित है। स्नान करने के बाद धोया हुआ वस्त्र पहिन कर उच्च जाति का मनुष्य स्वजातीय अस्नात मनुष्य को भी स्पर्श नहीं करता, तब नीच जाति के मनुष्य को स्पर्श करने की बात ही क्या? इस प्रकार अशुद्ध मनुष्य को अथवा अशुद्ध वस्तु को स्पर्श करने से उसका वस्त्र अशुद्ध हो जाता है। और कई बार ऐसा भी होता है कि शुद्धता के लिये इस प्रकार के अशुद्ध मनुष्य का स्पर्श हो जाने पर पुनः स्नान कर धोया हुआ वस्त्र पहिनना पडता है और किसी किसी समय केवल वस्त्र बदलने से शुद्धता हो सकती है। इस शुद्धता के प्रकार में रेशम, ऊन, कोशा, सन इत्यादि के वस्त्र मामूली वस्त्रों से अधिक पवित्र समझे जाते हैं और वे साधारणतः अशुद्ध भी नहीं होते। परन्तु सूतके कपडे खासकर धोतियां मामूली स्पर्श से अशुद्ध हो जाती हैं। यह छूत अछूत का प्रकार शुद्धता और अशुद्धता के कारण बना है।

(४) संस्कारः– कोई खास पदार्थ किसी विशेष रीतिसे तैयार किये जांय तो वे दूसरी जाति के पास से भी स्वीकृत किये जा सकते हैं। 'कच्ची' और 'पक्की' का प्रचार जो उत्तरीय देशों में है इसी का उदाहरण है। चमार के पास से यदि कोई चमडे की बनी चीज लेनी हो तो उसके ऊपर एक तेल का बूंद डाल देने से वह शुद्ध होती है। तैलपक्व अथवा घृतपक्व पदार्थों में छूत अछूत नहीं रहती। जिन वस्त्रों पर दर्जी द्वारा सीने का संस्कार हुआ हो वे धोने पर भी शुद्ध नहीं समझे जाते, जैसेः— कुडता, कमीज, कोट, वास्किट, पजामा आदि। परन्तु जिस कपडे की वे चीजें बनी हैं वह

कपड़ा यदि धोया जाय तो वह शुद्ध और पवित्र समझा जाता है। ऐसे कई रिवाज हैं जिनको जन्म, परिस्थिति अथवा शुद्धता में शामिल नहीं कर सकते वे सब संस्कार में शामिल हैं।

(५) रूढ़ि — शुद्धता और अशुद्धता की ऐसी बहुतसी बातें हैं जिनकेलिये ग्रन्थों में कोई प्रमाण नहीं मिलता। कई बातें ऐसी हैं जो ग्रन्थों में बतलाए हुए नियम के विरुद्ध होने पर भी समाज में दृढ़ रूप से रहतीं हैं। विचार-शील पुरुष भी उन के सामने अपना सिर झुका देते है। ऐसी बातें और ऐसे रिवाज रूढ़ि में शामिल हैं। उनके उदाहरण देखिये। नीच जातिका हिन्दू जो अछूत समझा जाता है, यदि ईसाई या मुसलमान बन जावे तो वह छूत बन जाता है। इसके लिये धर्म ग्रन्थों में कोई प्रमाण नहीं पाया जाता और विचार से भी यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। धर्म ग्रन्थों में 'न नीचो यवनात् परः' सरीखे वचन मिलते हैं। मामूली मनुष्य की समझ में अपना धर्म सब धर्मों से अच्छा रहता है। इन बातों के रहते हुए भी हिन्दु धर्म के अनुसार नीच जातियों के लोग, जब तक वे हिन्दु हैं, अछूत समझे जाते हैं !! धर्मके, समाज के और राजनीति के व्यवहार में विचारशील लोग भी इन नियमों का पालन आंखें बंद करके करते हैं। इस प्रकार के सब नियम रूढ़ि से संबंध रखते हैं।

(६) देश का आचार- किसी किसी प्रान्त में नाई का स्पर्श होने पर स्नान करना पडता हैं, परन्तु किसी किसी प्रान्त में वही नाई घरके बिस्तर तक बिछा सकता है। इस प्रकार के भिन्न भिन्न प्रान्तोंकी छूत अछूत के व्यवहार इस भाग में शामिल हैं।

(७) वृद्धों के ख्यालात— वृद्ध लोग कभी कभी किसी बातको धर्म के विरुद्ध बतलाते और किसी को धर्म के अनुसार बतलाते है। उस समय वे धर्म ग्रन्थों के प्रमाणों पर अधिक ध्यान नहीं देते। किन्तु 'हमने आज तक ऐसा नहीं देखा' 'हमारी समझ में ऐसी बात न होनी चाहिए।' इस प्रकार कहकर उस को अग्राह्य बतलाते हैं। ऐसी बातों में वृद्ध पुरुषों की अपेक्षा वृद्ध स्त्रियों का मत अधिक प्रभावशाली रहता है। इस के लिये वृद्धों की स्मरण शक्ति एक मात्र आधार है। इसके आगे उन्हें देशाचार या धर्मग्रन्थों की भी विशेष पर्वाह नहीं रहती। इस प्रकार की बातें घरेलु होने के कारण उनका विस्तार अधिक नहीं होता। वाचक अपने घर की प्रथा को देखकर इन बातों के उदाहरण पा सकते है।

(५) ग्रन्थों का प्रमाण- इसमें धर्मशास्त्र के अनेक ग्रन्थ शामिल हैं। कुछ आधुनिक ग्रन्थ भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न भिन्न हैं तब भी प्राचीन धर्म ग्रन्थों को सारे भारत वासी और बाहरी देशों में रहने वाले हिन्दु एकसा मानते हैं और उसके प्रमाणों का आदर करते हैं। विषय को समझने की दृष्टि से इस प्रकार के धर्म ग्रन्थों के छः विभाग हो सकते हैं। (१) वेदों की चार संहिताएं (२) ब्राम्हण ग्रन्थ, (३) स्मृति और धर्म शास्त्र (४) सूत्र ग्रन्थ, (५) पुराण और (६) आधुनिक धर्म शास्त्र के ग्रन्थ। हिन्दुओं के धर्म शास्त्र के छः विभाग ऊपर बताए हैं। इन इन विभागों के द्वारा कौन से ग्रन्थ किस काल में बने हैं इस बात का भी पता चल सकता है। लोगों के आजकल के रिवाज और आचार आलीर के चार विभागों के अनुसार चलते हैं। किसी किसी स्थान में आधुनिक धर्म शास्त्र के ग्रन्थ ही अधिक प्रमाण माने जाते हैं। परन्तु यथार्थ में आलीर के चार विभागों की अपेक्षा पहले के दो विभाग अधिक श्रेष्ठ एवं आदरणीय हैं। मनुस्मृति में भी कहा है—

या वेदबाह्याः स्मृतयः याश्च काश्च कुदृष्टयः ।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठाः हि ताः स्मृताः॥मनु.

स्मृति ग्रन्थों के जो वचन वेद बाह्य होंगे और जो कुत्सित दृष्टि से लिखे गये होंगे वे निष्फल समझना चाहिये क्यों कि वे सब तमसे—अज्ञान के कारण लिखे जाते हैं।

इस प्रकार वेदबाह्य आज्ञाओं की व्यर्थता का स्मृतियों में भी उल्लेख है। जब स्मृति ग्रन्थों की यह दशा है तब आधुनिक ग्रन्थों के विषय में क्या कह सकते हैं? तात्पर्य यह है कि धर्म संबंधी किसी बात का विचार करते समय आधुनिक ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन ग्रन्थ अधिक माननीय होने चाहियें। ऐसा रहते हुए भी छूत अछूत का विचार आधुनिक ग्रन्थों की ही सहायतासे कई बार किया जाता है।

अब तक छूत अछूत के मुख्य मुख्य आठ विभागों का स्वरूप बतलाया गया। उनको आपस में मिलाने से जो उपभेद बनेंगे उनकी ओर ध्यान देने की यहां आवश्यकता नहीं। मुख्य विषय से संबंध रखने वाली बातों के लिये कौनसा आधार है और वह आधार किस मात्रा तक ग्रहण करने योग्य है इसका विचार करने के लिये इन आठ विभागों का हमें बहुत उपयोग होगा।

(७) अभीतक बतलाई हुई बातों पर खूब विचार करने से और हिन्दुओं की समाज स्थिति की ओर भी ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि सब ऊंची जातियां नीची जातियों को न्यूनाधिकतासे अछूत समझती हैं अर्थात बिलकुल ही नीच जातियों को वे स्पर्श ही नहीं करतीं और कुछ ऊंची जातियों को केवल किसी खास समय स्पर्श नहीं करतीं। एकही जाति में किसी विशेष कारण से उत्पन्न होने वाली अछूतता का विचार गौण है, इसलिये उसका विवरण इस लेख में विशेष रूपसे करने की आवश्यकता नहीं है। मुख्य मुख्य प्रकारों का विचार करनेसेभी अपना कार्य सिद्ध होगा। जो जन्मसे ही अपने को शुद्ध समझते हैं वे ब्राह्मण हैं। भारत में पंचगौड और पंचद्राविड मिलकर कुछ ब्राह्मण डेढ करोड हैं। अंत्यज जिनको बिलकुल स्पर्श नहीं किया जाता और जिनकी छाया तक किसी प्रान्त में अछूत समझी जाती है, सारे भारत वर्ष में छः करोड हैं। ऐसे हिन्दू जिन्हें खास समय पर स्पर्श कर सकते हैं तेरह करोड हैं, इनका स्पर्श भी अशुद्धता उत्पन्न करता है परंतु उसमें एक विशेषता है इस अशुद्धता की तीव्रता कुछ कम रहती है। ये मध्यम जाति के लोग समाजमें मिलते जुलते हैं, ऊंची जातियों के घर जाकर भी बैठ सकते हैं पर उच्च ब्राह्मणों को उनको अपने साथ बैठालना पसंद नहीं है। इस प्रकार हिंदु समाज में पूर्ण शुद्ध लोग डेढ करोड और कम अशुद्ध तथा अधिक अशुद्ध मिलकर बीस करोड हैं। इसका मतलब यही होता है कि सब लोगों की समझ में अल्प संख्यावालों की अपेक्षा शेष अजान लोग हीन हैं। यह जादती है। यह प्रथा दो हजार वर्षों से बराबर चली आ रही है। इस लिये वह श्रेष्ठ जाति और निकृष्ट जाति दोनोंके नस नस में भरी हुई है। इस धार्मिक गुलामी का लोगों के मन पर विचित्र परिणाम हुआ है उच्च जातियों के साथ समानता के हकों की भावना तक इन नीची जाति के लोगों में से बिलकुल नष्ट हो गई है। यह बौद्धिक अवनति है और इसका कारण है धार्मिक गुलामी इसका विचार आगे चलकर करेंगे। वर्तमान समय में समाज में जो छूत अछूत का व्यवहार है उसके अनुसार लोगों के चार विभाग बन सकते हैं।

(१) शिक्षित समाज इस विभाग में विशेषतः नोकरी करने वाले लोग आते हैं तथा बडेबडे सरदार जागीरदार ओहदेदार बडे बडे व्यापारी बडे बडे कार्यकारी और प्रसिद्ध विद्वान आदि इसमें शामील हैं।

(२) मध्यम समाज — इसमें मामूली मुन्शी, दुकानदार, चित्रकारी या इसीके समान किसी कला विशेष का काम करके पेट पालने वाले अल्पशिक्षित लोग शामिल हैं।

(३) अशिक्षित समाज — बिलकुल अनपढ़े और मिहनत का काम करके पेट पालनेवाले लोग इसमें शामिल हैं। माली, कुष्टा, धोबी, किसान आदि लोग इसी विभाग में आते हैं।

(४) अस्पृश्य समाज — इसमें ढेड, चमार, नामशूद्र, परया, अंत्यज, डोम, मेहेतर, मिरासी आदि जातियां शामिल हैं। इनमें से कुछ मेहेतरों को छोड कर शेष सब हिन्दू हैं। पर दूसरे हिन्दुओं को इनका स्पर्श तक असहनीय है। तब रोटी की बात ही क्या? एक ही धर्म में रहते हुए भी इस प्रकार का व्यवहार दूसरे किसी धर्ममें नहीं पाया जा सकता।

और भी एक समाज हो सकता है। वह जंगली लोगों का बना हुआ है। पर वे अस्पृश्य जातियों के समान समाज के बाहर नहीं समझे जाते। इस कारण और वे अपने को हिन्दुधर्मीय नहीं कहलाते इसलिये भी उनका विचार इस स्थान में अलग नहीं किया जावेगा ये लोग किसी किसी बातमें तीसरे विभाग में शामिल किये जा सकते हैं और किसी किसी बातमें चौथे विभाग में। इसलिये जो बात इन दो विभागों के लिये कही जावेगी वही उनके लिये भी होगी। उनके विषय में अलग कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। केवल स्थिति का विचार करना हो तो हिन्दु समाज चार भागों में बंट सकता है जैसा कि ऊपर बताया गया है। और संख्या का विचार करते हुए अछूत जातिका अनुपात देखा जावे तो तीन छूत हिंदू पीछे एक अछूत ऐसा हिसाब बैठता है। जिस समाज का चौथा हिस्सा इस प्रकार अछूत, हीन तथा निंदित माना जाता है उसके द्वारा सहानुभूति पर निर्भर रहने वाले कार्यों की आशा कहां तक की जा सकती है। और उस समाज को सचेत भी कैसे कह सकते हैं?

पहले कहा जा चुका है कि इस अछूत जाति के लोगों की संख्या छः करोड है। इन छः करोड लोगोंको समाज, सभा, पाठशाला, अस्पताल आदि स्थानों में—जहां जाने का प्रत्येक हिन्दु का जन्मसिद्ध हक है— जाने की मनाई है। पहले तीन विभाग के लोग किसी किसी समय एकत्रित हो सकते हैं। मंदिर में या सभामें वे एक ही स्थानमें मिलकर बैठ सकते हैं, परन्तु चौथे विभाग के अछूत लोगों का प्रवेश उन स्थानों में नहीं हो सकता। इस बात की ओर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि समाज ने इनका कैसा तीव्र बहिष्कार किया है और बहिष्कार से उनकी मानसिक अवनति कितनी भयंकर हुई है!

८. यह एक दो मनुष्यों का प्रश्न नहीं है। यह छः करोड लोगों के जन्मसिद्ध समान हक का प्रश्न है। ईश्वर ने पांच कर्मेन्द्रियां और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सारी मनुष्य जाति को समानता से बांट दी है। हर एक मनुष्य के शरीर में उन्नति करने के लिये आत्मा रखा हुआ है। और हरएक स्थान में ईश्वर विद्यमान है। ब्राम्हण के शरीर में जिस प्रकार प्रकृति और पुरुष हैं उसी प्रकार वे चंडाल के शरीर में भी हैं। तो इसी समाज को विशेषरूप से बहिष्कृत क्यों समझते हैं?

भगवद्गीता में इस प्रकार कहा है:—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
गीता अ. ५

" विद्वान्, ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चंडाल को पण्डित एकसी दृष्टि से देखता है। "

जीवमात्र की भलाई तथा विश्वकुटुम्बित्व दोनों में समान हक का विचार पूर्णतया सम्मिलित है। किसी खास समाज को बहिष्कृत समझने से शिक्षित समाज से उसका संबंध नहीं आता इस लिये उनके हृदय पर उच्च संस्कृति का प्रभाव बिलकुल नहीं पडता। सहवास और सहानुभूति ही उन्नति के साधन हैं। हर एक मनुष्य यदि जन्म से ही— वह अच्छे कुल का क्यों न हो— अलग रखा जावे तो उसकी उन्नति किस प्रकार हो सकेगी? ज्ञान प्रसार के लिये एक दूसरे का मिलना जुलना ही नितान्त आवश्यक है। छः करोड हिन्दुओं को अज्ञानता में सडाने का पातक छूत हिन्दुओं के ही सिर पर है। ये हिन्दु हमारी समाज का एक अंग होते हुए भी अलग हो गये हैं। हम लोगों के बांधव रहते हुए भी वे हम लोगों से दूर हो गये हैं। हम लोगों की भलाई के कामों में वे मदद करने वाले हैं तिस पर भी उनका दूसरों से संबंध न आने के कारण परस्पर प्रेम बढता नहीं है।

अछूतों के उद्धार का यह प्रश्न सनातन धार्मियों के चौथे हिस्से का प्रश्न है तथा भारतियों के पांचवे हिस्से का है। इतने विशाल समाज का हित या अहित इस प्रश्न के उचित जबाव पर निर्भर है और इसी लिये इस प्रश्न पर पूर्ण विचार करना नितान्त आवश्यक है।

मनके दो अंश।

(ले० श्री. गणेश चंद्र प्रामाणिक)

"मानवी मनमें चन्द्र और विद्युत् दोनोंके अंश हैं। एक चन्द्रमाका अंश जागृतिमें कार्य करता है और वैद्युत मन सुषुप्ति अथवा समाधिमें जागता है। यद्यपि इस विषयमें मुझे अबतक निश्चित ज्ञान नहीं है, तथापि उपनिषदोंकी और वेदमंत्रकी संगति देखनेसे उक्त बातका पता लगता है। इसके विषयमें निश्चित ज्ञानवाले पुरुष अधिक स्पष्ट लिखेंगे तो संशोधकों पर उनके बडे उपकार हो सकते हैं। "

मैं इस विषय पर कुछ प्रकाश डालनेके अभिप्रायसे स्वामि मायानन्द कृत गीताकी व्याख्या "गीतानुशीलन" के उपक्रमणिकाध्यायके सप्तम परिच्छेदसे कुछ उद्धरण आपकी सेवामें भेजता हूं। '

" गीतानुशीलनके "इस परिच्छेदमें " भारतीय आर्य जातिमें समाज-सेवामें ज्ञानका लोप" इस विषय पर विचार करते हुए महाभारत वन पर्वके यक्ष युधिष्ठिर संवादके अन्तर्गत "जो अग्निहोत्रपरायण है वही यथार्थ में ब्राह्मण है" इस वाक्यकी समालोचना करते हुए अग्निके विषयमें इस नीचे लिखा विवरण दिया हुआ है:....

" अब हमको पुराण और वेदोंमें इस बातका अनुसन्धान करना है कि अग्निके साथ मनुष्योंकी ज्ञानार्जनी वृत्तिका वह कौनसा सम्बन्ध है कि जिसके आधार पर युधिष्ठिर महाराजने " अग्निहोत्र परायण" शब्द कहा है। पुराणोंमें अग्निका परिचय इस प्रकार मिलता है– ' अग्नि कश्यप (महत्) और अदितिके (आकाश के) पुत्र हैं,। यहां अग्नि तेजःतत्त्व है। क्योंकि आकाश और वायुके मेलसे तेजःतत्त्व (उष्णता और प्रकाश) की उत्पत्ति दर्शनोंमें मानी गई है। 'धर्मके औरससे वसु-भार्याके गर्भमें अग्नि उत्पन्न हुए थे।' वसुधा पृथ्वीका नाम है। सुतरां वसु शब्द से जीव और स्थावर वस्तुओंका लक्ष होता है। धर्म वह है जिससे जीवका धारण (पालन– पोषण उन्नति) होता है। अपने पालन-पोषण की आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये मनुष्यों में जो मानसिक चेष्टा है, उसके और स्थावर वस्तुओंके परस्पर संघर्षसे कार्यकारिणी बुद्धि उत्पन्न होती है। दृष्टान्त—भूमि जल और बीज पृथ्वीपर उपस्थित रहते हुए भी आदिम मनुष्योंको कृषि कौशलका ज्ञान न था। उसको अन्नकी आवश्यकता का ज्ञान था और उसकी पूर्ति के लिये उनमें इच्छा थी। उसकी यह इच्छा जब बलवती होकर अन्नके उपादान भूमि, जल और बीजके संग मिलकर चेष्टान्वित हुई तब दोनोंके संघर्षसे कार्यकारिणी बुद्धिका उदय हुआ, जिससे कृषि कौशलका आविष्कार हुआ। इसी प्रकार अन्य विषयों में भी समझो। उचित उपायसे जीवन यात्राके लिये तथा अपनी उन्नतिके लिये जो प्रयत्न है वह धर्म है। और यह प्रयत्न, कर्ता होनेसे रूपकमें भर्ता कहा गया और वसु याने अन्य पार्थिव वस्तु उपादान होनेके कारण रूपकमें भार्या कही गई। इन दोनोंके संघर्षसे जो कार्यकारिणी बुद्धि उत्पन्न होती गई उसको रूपकमें अग्नि इसलिये कहा कि संघर्षसे ही अग्निकी (उत्तापकी) उत्पत्ति होती है अतएव अग्नि शब्दसे मनुष्यों की वह मानसिक वृत्ति विवक्षित है जिसकी शक्तिसे मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये स्थावर वस्तुओंको उपयोग में लाते हैं। मनुष्यकी वह मानसिक वृत्ति " बुद्धि " है।

अग्निके तीन पैर, सात हाथ और दो मुख हैं। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक बुद्धि इस प्रकार बुद्धिके तीन भेद देखे जाते हैं। जिस समय सतोगुण पर खडी होकर बुद्धि काम करती है उस समय वह सात्त्विक, रजोगुण पर खडी होकर काम करते समय राजसिक, और तमोगुणके समय तामसिक बुद्धि कहलाती है। बुद्धि इन तीनों गुणोंमें किसी एक पर खडी होकर ही काम करती है। अतएव ये तीन गुण ही उसके तीन पैर हैं, अर्थात स्थिति स्थान हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और चित्त एवं अहंकार ये सात स्थान बुद्धिके कार्य करनेके और प्रकाशित होनेके साधन हैं, इस लिए कहा गया कि अग्निके सात हाथ हैं। जीवित प्राणी में मुखमण्डल (कण्ठसे ऊपरका का हिस्सा) ही प्रधान अंग है। मनुष्य में व्यक्ति इसी अंगके द्वारा अनायास पहचाने जाते हैं। अतएव 'अग्निके दो मुख हैं' इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि अग्निके पहचान के लिये उसके दो स्वरूप हैं। श्री गीताके सप्तम अध्याय के चौथे मंत्रमें कहे हुये भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार और जीव (प्राण) इन नव तत्त्वोंमें प्रथम पांच तत्व अचेतन हैं, दूसरे तीन चेतन प्राय हैं और शेष एक चेतन है। अचेतनकी कोटी में जो अग्नि है उसके दो विभाग हैं। एक अपनी सूक्ष्मता के कारण तेजस्तत्त्व कहाता है जिसका रूप विद्युतके प्रकाश में हम देखते हैं। दूसरा अपने स्थूलत्वके कारण आग कहाता है। अग्निका सूक्ष्मरूप तेजस्तत्त्व जब प्राणके साथ जीव देहमें सम्मि-

शित होता है तब वह बुद्धिरूप से प्रकाशित होता है। अतएव अग्निका अचेतन स्थूल रूप --आग, प्रकाश आदि जो ऊष्मा और आलोक देने वाले हैं, उसका एक मुख है। और उसका चेतनःप्राय सूक्ष्मरूप-जो जीव देहमें बुद्धिरूपसे प्रकाशित होता रहता है, वह उसका दूसरा मुख है। अर्थात् अचेतन " तेज " और चेतनःप्राय "बुद्धि" ये दो तत्त्व अग्निके दो मुख हैं।"

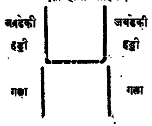
" मानवी मनमें चन्द्र और विद्युत् दोनोंके अंश हैं" कहा है, वह विद्युत् का अंश ही बुद्धि है। यह बुद्धि सुषुप्ति दशा में भी जागृत रहती है। इसी कारण मनुष्य निद्रासे जागृत होने पर उसे ज्ञान रहता है कि वह सुखसे सोता था। वह चन्द्रमा का अंश जो जागृत और स्वप्नावस्थामें कार्य करता रहता है वह जीवके अन्तःकरण में "मन" है; जिसके निद्रित होने पर ही सुषुप्ति दशा उपस्थित होती है।

अब आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि मनके साथ चन्द्रमा का कैसा सम्बन्ध है आप अथवा वैदिक धर्म के कोई पाठक समझा देवें।

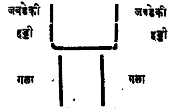
कंठ बंध।

हंस के समान कंठ अर्थात् गला होना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि, मनुष्यका कंठ सामनेसे देखनेपर जबडों की हड्डीसे बडा दीखना चाहिये। परंतु प्रायः लोगोंके गले छोटे होते हैं और जबडों की हड्डियोंका अंतर बडा होता है।

ऐसा होना चाहिये।



परंतु ऐसा होता है-



गला पतला होनेसे सिरका बोझ उसपर सहा नहीं जाता और थोडीसी अशक्तता आनेपर सिर कंपायमान होने लगता है। तथा वृद्धपकाल होनेपर तो बहुत ही कांपने लगता है। जो लोग "शीर्षासन" करते

है उनके गलेमें बहुत शक्ति आती है और इस कारण वक्तदोष से उनको बाधा नहीं होती। तथापि इस विशेष कार्यके लिये योग साधनमें "कंठ-बंध" का अभ्यास किया जाता है। इसकी रीति निम्न प्रकार है—

(१) समसूत्र स्थिति।

आप भूमिपर बैठें या खडे रहें, दोनों अवस्थाओं में कंठबंध किये जा सकते हैं। परंतु इस समय अपनी पीठ, कमर, गला और सिर समसूत्रमें रखिये। समसूत्र स्थितिके विना किया हुआ कंठबंध लाभदायक नहीं हो सकता।

(२) कंठ - पुरो बंध।

कंठके मूलमें ठोडीको लगानेसे यह बंध सिद्ध होता है। गलेको सिकोड कर ठोडी छाती और गलेकी संधिमें डाटके लगानेसे कंठ पुरोबंध होता है। गलेके मूलस्थानमें दोनों ओरकी हड्डियोंके बीचमें अंगूठा रखने योग्य नरमसा स्थान है, वहां ठोडी लगानी चाहिये। इससे पीठकी रीढके मणियोंका स्थान ठीक होता है। किंचित् काल इस बंधमें बैठनेसेही गलेके पृष्ठ भागपर खिंचाव आता है और वहांकी नस नाडियों की शुद्धि होनेका अनुभव उसी समय आता है। बहुधा लिखने, पढने, चलने आदिके समय मनुष्यका सिर आगे झुकता रहता है और इसकारण गलेके पृष्ठ-भाग में पृष्ठवंश ठीक न रहनेके कारण दोष उत्पन्न होता है। उसकी निवृत्ति इस बंधके अभ्यास से होती है। इसलिये पृष्ठवंशके दोषको ठीक करनेके कारण यह बंध आयुष्य वर्धक है ऐसा कहते हैं। किंचित काल इस बंधका अभ्यास कीजिये, और पुनः पूर्ववत सिर और गला सीधा कीजिये। इस प्रकार प्रारंभमें बार बार कीजिये। पश्चात् इस बंधमें देरतक भी बैठ सकते हैं। कुंभक के साथ इसका करना अधिक लाभदायक होता है। इससे छाती भी फैलती है।

(३) कंठ-पृष्ठ बंध।

पूर्वोक्त कंठबंध छोडकर मस्तक को सीधा पीठकी ओर ले जाकर, मस्तक का पृष्ठ भाग गलेके पृष्ठभागके मूलमें लगाइये। इस समय आंख नाक मुख सीधे छतके सामने आजांयगे। पूर्वोक्त कंठपुरोबंधमें गलेका सामनेका भाग सिकुड गया था, उसी प्रकार इस बंधमें गलेका पृष्ठभाग सिकुड जाता है। और अच्छी प्रकार छाति आगे फैलती है। इसका भी फल पूर्ववत ही है।

(४) बाहुकर्ण स्पर्शन।

पूर्ववत् समसूत्रमें रहकर बाहुको ऊपर न करते हुए दायें बाहुको दायां कान लगाइये। किंचित् काल इस अवस्थामें रहकर पश्चात बांये बाहुको बायां कान लगाइये। इसका अभ्यास वारंवार करनेसे विरुद्ध दिशा की नसनाडियोंकी शुद्धता होती है।

(५) बाहुहनु स्पर्शन।

पूर्ववत् समसूत्रमें रहकर गलेको घुमाकर अपनी ठोडी किसी एक बाहुको लगाइये, पश्चात् दूसरे बाहुको लगाइये। इस प्रकार बारंबार करनेसे गला शुद्ध हो जाता है और गले के नसनाडीके दोष दूर हो जाते हैं।

(६) हनु स्कंधास्थि स्पर्शन।

बाहुओंसे दो हड्डियां गलेके मूलमें आकर मिलतीं हैं, उनका नाम स्कंधास्थि है। किसी एक हड्डीके मध्यमें हनुका स्पर्श करना और उस के पश्चात् उसकी विरुद्ध दिशा के पृष्ठभागमें सिर लेजानेसे यह बंध सिद्ध, हो जाता है। इसी प्रकार दूसरी हड्डीपर हनु लगाकर पश्चात् उसके विरुद्ध दिशामें सिरका पृष्ठभाग लेजानेसे दूसरी ओरका बंध सिद्ध होगा। इस प्रकार बारंबार करनेसे बडा काम होता है।

(७) शीर्षचक्र ।

समसूत्रमें खडा रहकर गलेके साथ सिरको गोल घुमाइये। जितना बडा चक्र सिरके साथ हो सकेगा, उतना कीजिये। दाईं ओर से बाईं ओर तथा उसकी विरुद्ध दिशामें ये चक्र वारंवार करनेसे बडा लाभ हो सकता है।

(८) सिंहासन ।

समसूत्रमें खडा हो कर मुख खोल दें। जितना खोला जा सकता है खोल दें। जिह्वा को जितना बाहिर निकाला जा सकता है निकालें। दांतों को अच्छीप्रकार उग्र रूपमें बाहिर निकाल दें। जैसा शेर और बबरका मुख बडा भयानक होता है उस प्रकार मुख बनाइये। आंखें खोल लीजिये। गलेकी नस नाडियां अच्छीप्रकार तना कर अपना रूप उग्र बनाइये। यह सब अपने मनसे ही करना चाहिये। इस प्रकार करनेका नाम सिंहासन है। कंठ और मुखके स्नायुओंमें अच्छीप्रकार खिंचाव आता है, इस लिये यह आसन बडा उपयोगी है।

(९) आरोह और अवरोह ।

समसूत्रमें अपने धड को रखिये और अपने गलेको ऊपर उठाइये। इसको आरोह कहते हैं। तथा गलेको अंदर दबाइये इसको अवरोह कहते हैं। गलेके स्नायु निर्दोष करनेके लिये इसका बहुत उपयोग होता है।

(१०) शीर्षभ्रमण ।

समसूत्रमें रहकर अपने सिरको दाईं और जितना घुमासकते हैं घुमाइये, पश्चात् बाईं ओर उसी प्रकार अधिकसे अधिक घुमाइये। इस प्रकार बार बार कीजिये। यह अभ्यास बिस्तरेपर लेटते हुए भी किया जा सकता है। सिरानेपर सिर रखकर सिर दाईं ओर घुमाकर दायां कान सिरानेको लगाइये, पश्चात उसकी विरुद्ध दिशामें सिर घुमाकर बायां कान सिरानेको लगाइये। ऐसा वारंवार कीजिये। इससे गलेके स्नायु शुद्ध हो जायेंगे।

कंठको स्वर्गद्वार कहते हैं। इस स्थानकी विशुद्धि करनेके लिये पर्याप्त प्रयत्न होना आवश्यक है। कंठके निर्दोष होने से उत्तम स्वर बनता है। मस्तिष्कसे मज्जाप्रवाह अच्छी प्रकार नीचे तक शुद्ध रह सकता है, इसलिये सब शरीरके आरोग्यके साथ कंठ की शुद्धीका संबंध है।

इसके अतिरिक्त कंठबंधका एक विशेष महत्त्व यह है कि, केवल कुंभक की सिद्धि के लिये बडी देरतक कंठमूलमें ठोडी लगानी आवश्यक होती है। इस प्रकार स्थिर बैठना उस समय शक्य होता है कि जिस समय गलेके व्यायामों द्वारा गलेकी नस-नाडियां निर्मल हुई हों। इस कारण इस उद्देश्यके लिये यह कंठबंधका अभ्यास बडा सहाय्यकारी होता है।

ऊपर जो कंठबंधके दस व्यायाम बताये हैं, प्रत्येक का अभ्यास प्रारंभमें पांचवार और अभ्यास होनेपर दस या बीस वार करना अच्छा होता है। किसी विशेष कारण के लि कोई विशेष अभ्यास अधिकवार भी किया जाय, तो कोई हानि नहीं होगी। सब अभ्यासोंको आठ दस मिनिट पर्याप्त होते हैं। आशा है कि पाठक इनका योग्य अभ्यास करके कंठकी निर्दोषता सिद्ध करेंगे।

वेदमें सङ्गठन ।

(श्री. पं० हरिहर स्वरूप शर्मा)

हिन्दुओंके सङ्गठनकी चर्चा आजकल बडे जोरों पर हैं। जैसे सङ्कटकी दशामेंसे हिन्दू जाति इस समय गुजर रही है, उसे देखते हुए हिन्दुओंकी बिखरी हुई शक्तियोंका एक केन्द्रमें इकट्ठा करना बहुत ही आवश्यक हो गया है। हिन्दुओंके इतिहासकी तरफ दृष्टि डालनेसे पता चलता है कि यह उनकी नई प्रवृत्ति नहीं है। जब जब उनके धर्म, देश और अस्तित्वपर विपत्ति आई तभी उन्होंने अपना सङ्गठन करके उसका धीरतासे सामना किया। इतिहासमें ही नहीं हिन्दुओंके परम-प्रमाण-भूत वैदिक साहित्यमें भी ऐसे अनुष्ठान मिलते हैं जिन्हें सङ्गठनके सिद्धान्तका मूल समझा जा सकता है। हिन्दुओं के इतिहासों और गाथाओंका उल्लेख न करके इस समय एक वैदिक अनुष्ठानका ही जिक्र मैं करना चाहता हूं। उससे यह पता चलेगा कि हिन्दुओंकी संघटनकी प्रवृत्ति बहुत पुरानी है और इस सिद्धान्तको वे समय-समयपर काममें लाते रहे हैं।

वेदमें एक अनुष्ठान मिलता है जिसे 'तानूनप्त्रम्' नाम दिया गया है। आपसमें मित्रताका बन्धन दृढ करनेके लिये उस जमानेमें इस कर्म का अनुष्ठान किया जाता था। उस समयके आर्य घी छूकर एक दूसरेकी सहायता करनेकी शपथ लेते थे। आपस्तम्ब श्रौत सूत्रमें इस अनुष्ठानकी विधि विस्तारपूर्वक मिलती है।

'तानूनप्त्रम्' अनुष्ठानका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—जिस कर्मके अनुष्ठानसे तनु अर्थात शरीरका पतन न हो, शारीरिक दुर्बलताके कारण दूसरेसे पराभव न सहना पडे। आत्म-निर्भरता का भाव जगानेवाले अनुष्ठानका नाम है 'तानूनप्त्रम्' ऐतरेय ब्राह्मणके भाष्य में सायणाचार्य ने इस विधानका यही अर्थ माना भी है—"तनूनां पुत्रादिशरीराणां न पतनम्"। इस अनुष्ठानमें तनु शब्द स्त्री, पुत्र, धन, बल, शरीर आदि सारी सम्पत्तियोंका बोधक है।

जब धन बल आदि सम्पत्तियों की रक्षा करना देवताओं के लिए कठिन हो उठा; आपसकी ईर्षा अनैक्यसे देवताओंका समाज दुर्बल हो गया, एक-दूसरे

से प्रधान बननेके लिये देवताओं में प्रतिस्पर्धाके भाव जाग उठे; एककी उन्नति दूसरेकी आंख में कांटे की तरह खटकने लगी और देवताओं के घर की फूट से लाभ उठानेके लिये उनके शत्रु अपने विजय नाद से जब दिशाओं को कंपाने लगे तब आत्मरक्षाके लिये देवताओं को संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई और इस 'तानूनप्त्रम्'अनुष्ठानकी सृष्टि की गई।

इस सम्बन्धमें इस प्रकार वर्णन मिलता है—

" देवासुराः संयत्ता आसन्, ते देवा मिथो विप्रिया आसन्, तेऽन्योन्यस्मै ज्येष्ठयायातिष्ठमानाः पञ्चधा व्यक्रामन्—अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः, इन्द्रो मरुद्भिः वरुण आदित्यैः बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः । " तैत्तिरीय संहिता. ६. २. २।

"तान् समदविन्दत् । ते चतुर्धा व्यद्रावन् अन्योन्यस्य श्रिया आतिष्ठमाना अग्निर्वसुभिः, सोमो रुद्रैः वरुण आदित्यैः इन्द्रो मरुद्भिः बृहस्पतिर्विश्वेदेवैः । इत्युहैक आहुरेते त्वेव ते विश्वेदेवा ये ते चतुर्धा, व्यद्रवन् । " शतपथ ब्राह्मणम्, ३-४-२-१

पहले समयमें देवताओं का असुरोंके साथ जब सङ्घर्ष हुआ तो देवताओं का आपसमें ही बहुत कुछ बिगाड हो गया। वे एक दूसरेके ज्येष्ठत्व (श्रेष्ठत्व) या प्रधानताको सह न सके। आपसके वैमनस्यके कारण देवताओं का मण्डल पांच भागोंमें विभक्त हो गया और देवतागण युद्धके लिये तैयारी करने लगे। इन पांच भागोंमेंसे पहले भागके अधिनायक अग्नि और मन्त्री अष्ट वसु बने; दूसरे भागके नायक हुए सोम और मन्त्री एकादश रुद्र। तीसरे भागके अधिनायक इन्द्र और मन्त्री मरुत्; चौथेके नायक वरुण और मन्त्री द्वादश आदित्य; पांचवें भागके नायक बृहस्पति और मन्त्री विश्वे देवता बने।

देवताओं की आपसकी फूटको देखकर असुरोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने इस मौकेको हाथ से देना न चाहा। घरकी फूटके कारण देवताओं को दुर्बल पाकर असुरोंने उन पर धावा बोल दिया।

(१) "तान् विद्रुतान् असुररक्षसान्यनुव्यवेयुः।" शतपथ ब्राह्मणम् ३-४-२-१

असुरोंका आक्रमण होता देख देवताओं की आंखें खुल गई। उन्होंने देखा कि वे घरमें लडाई ठान कर अपने शत्रुओंका होसला बढा रहे हैं और उनका मार्ग साफ कर रहे हैं।

(२) "तेऽमन्यन्तासुरेभ्यो वा इदं भ्रातृव्येभ्यो रध्यामो यन्मिथो विप्रियाः स्मः।" तैत्तिरीय संहिता, ६-२-६-८

"उन्हें शत्रुओंसे अपने पराभवकी आशङ्का हुई और सोचा कि उनके परस्परके वैमनस्यसे असुरोंकी अभीष्ट सिद्धि होगी। उन्होंने समझा कि वे यदि आपस में लडते रहे तो वे पापी होंगे।

(३) "ते विदुः—पापीयांसो वै भवामोऽसुररक्षसानि वै नोऽनुव्यवागुः द्विषद्भ्यो वै रध्यामः। " शतपथ ब्रा० ३-४-२-२

ऐसी गम्भीर परिस्थितिको देख सब देवताओं ने इकट्ठे होकर अपनी रक्षा का यही उपाय निश्चित किया कि वे सब एक सूत्रमें ग्रथित हों और, एककी उन्नतिको सबकी उन्नति मानें और एकको अपना प्रधान बनाकर उसके पीछे चलें।

(४) "हन्त, संजानामहा, एकस्य श्रियै तिष्ठामहा इति।" शत० ब्रा० ३-४-२-२

देवताओंके सब दलोंने मिलकर निश्चय किया

कि उन सबको आपसमें एक हो जाने की प्रतिज्ञा करनी चाहिये। इस निश्चयके अनुसार सब देवताओं ने अपने अपने तनु (अर्थात शरीर) के समान प्रिय स्त्री, धनपुत्र, सम्पत्ति आदिको राजा वरुणके घरमें निक्षेप रूपसे रखकर यह शपथ ली कि हममें जो कोई आपसमें द्रोह करनेमें पहल करेगा; अथवा जो इस निश्चयको तोडेगा वह अपने स्त्री पुत्रादिसे रहित होगा।"

" या न इमाः प्रियास्तनुवः ताः समवद्यामहै ताभ्यः स निऋच्छाद् यो नः प्रथमोऽन्यस्मै द्रुह्यादिति

तैत्तिरीय संहिता ।६-२-२-८-९

" हन्त या एव न इमाः प्रियतमास्तन्वस्ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे सन्निदधामहै, ताभिरेव नः स न सङ्गच्छत यो न एतदति क्रामेदिति ! "

शत० ब्रा० ३-४-१५

असुरोंके हमलेसे अपनी जान और माल के बचा ने के लिये उस आपत्तिके समय आपद्धर्म्म समझ कर कुछ समयके लिये ही देवताओंने अपने सङ्गठनका उपक्रम नहीं किया था बल्कि उन्होंने आपसमें प्रतिज्ञा की कि जब तक वे स्वर्गमें रहेंगे उनका ऐक्य 'अजर्य'—अक्षय रूपमें रहेगा।

"ते होचुः। हन्तेदं तथा करवामहै, यथा न इदमाप्रदिवमेवाजर्यमसदिति।" शत० ब्रा० ३-४-१-४

" ते इन्द्रस्य श्रिया अतिष्ठन्त तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वदेवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति। "

शत० ब्रा० ३—४—२—२

इस प्रतिज्ञाके अनुसार किया हुआ उनका ऐक्य आजतक अब तक चला आ रहा है। इस निश्चयके अनुसार उन्होंने अपनेमेंसे इन्द्रको श्रेष्ठत्वका अधिकार दिया और इस प्रकार विजय लाभ करनेमें समर्थ हुए। उस समयसे यह उक्ति चरितार्थ हुई—"इन्द्रश्रेष्ठा देवाः। "

मन्त्र द्रष्टा ऋषियोंने इस इतिवृत्त को कह कर आनेवाली सन्तानोंको यह उपदेश दिया है कि जो वेदाभिमानी उक्त विधिसे तानूनप्त्र अनुष्ठानको करेगा वह शत्रुओंको पराजित करके ऐश्वर्यका उपभोग करेगा। और जो इस ऐक्य सम्पादनके अनुष्ठानकी प्रतिज्ञाको तोडकर किसी भी अपने पक्षवाले के साथ द्रोह करनेमें पहल करेगा उसे दुःख भोगना पडेगा।

देवता आपसमें भेद हो जानेके कारण असुरोंसे हार गये, इस कारण स्वजनोंमें भेद उत्पन्न करना उचित नहीं। स्वजनोंमें भेद उत्पन्न करनेवाला पुरुष शत्रुओं का आनन्द बढानेवाला होता है और स्वयं उन के इशारे पर नाचता है। इसलिये आपसमें द्रोह फैलाना ठीक नहीं। जो इस रहस्यको जानकर आत्मविच्छेद नहीं करता वही शत्रुके इरादों को रोकनेवाला है, वह परपक्ष के वशमें भी नहीं आ सकता।

तस्माद् यः सतानूनप्त्रीणां प्रथमो द्रुह्यति स आर्तिमार्च्छति यत्तानूनप्त्रं समवद्यति
भ्रातृव्याभिभूत्यै भवत्यात्मना परास्य भ्रातृव्यो भवति।

तै० स० ६-२-२-६

"तस्मादु न स्वा ऋतीयेरन् य एषां परस्तराभिव भवति स एनामनुव्यैति, ते प्रियं द्विषतां कुर्वन्ति द्विषद्भ्यो राध्यति, तस्मान्नर्तीयेरन्

शत० ब्रा० ३-४-२-३

कैसा सुन्दर उपदेश है। कई युग बीत जाने पर भी इसकी ओजस्विता और उपयोगितामें जरा भी फर्क नहीं आया है। वैदिक ऋषियों ने तानूनप्त्र अनुष्ठानका विधान बतला कर जो अमर उपदेश आर्य सन्तानको दिया है उसे हम लोग भूल गये हैं।

इस परम-रहस्यको भुलाकर खुद देवताओं को भी जब परेशान होना पड़ा था तो हम मनुष्यों की कौन गिनती। 'तानूनप्त्रम्' अनुष्ठान दूसरे शब्दों मे आपसके सङ्गठन या सङ्घशक्तिके भावका द्योतक है। इस अनुष्ठानके समय हवनकी आगमें घीकी आहुतियां डालनेमात्रसे इसकी पूर्णता नहीं थी, तनु (शरीर) के मिलनसे ही यह यज्ञपूर्ण नहीं होता था किंतु हृदयों के मिलनसे इस अनुष्ठानका उद्देश्य पूरा होता था। बाह्य नहीं यह आभ्यन्तर अनुष्ठान है। इस पवित्र व्रतमें दीक्षित हुए देवताओंने आपसके विरोधमें अपना विनाश समझ कर इन्द्रके नेतृत्वमें अपना सङ्गठन करके उस समय सर पर आई विपत्तिसे अपनी रक्षा की। इसी उपायके अवलम्बनसे भिन्न भिन्न जातियोंने अपने अस्तित्वको बचाया और उन्नति प्राप्त की। इस सुन्दर उपदेशको भूली हुई हिंदू जाति भी इसी मंत्रकी आराधना करके फिर से अपने विलुप्त गौरव को पा सकती है और दुनियांमें गर्वके साथ अपना सर ऊंचा उठा सकती है। ऐसा करनेसे ही जातिका, धर्मका, समाजका सङ्गठन होगा; देवताओं और पितरोंके ऋणसे मुक्ति होगी; मन्दिरों और तीर्थों, बालकों और स्त्रियोंकी रक्षा होगी। यदि इस उपदेशकी अत्यन्त अवधानके साथ धारण करनेकी कभी आवश्यकता थी तो वह अब है। धर्म पर आई हुई ग्लानि और जाति पर आई हुई आपत्तिका ध्यान करते हुए ऋषियों के इस उपदेशको मनसा धारण करके कर्मणा अनुष्ठित करना हिन्दुओं का कर्तव्य होना चाहिये। पूज्यपाद ऋषियोंने अभ्युदय प्राप्ति का यही उत्तम उपाय समझा था, इसलिये अनेक उपाख्यानों द्वारा अनेक रूपोंमें उन्होंने इस तत्वका हमें उपदेश दिया। मालूम होता है यह उपदेश उन्हें बहुत ही प्यारा है। इसीसे ऋग्वेदके अन्तिम सूक्तमें भी यही संदेश वैदिक जगतको दिया है —

"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं
सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे
सञ्जानाना उपासते॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति"॥

ऋग्वेद १०।१९१

"हे स्तुति करनेवालो, प्राचीन देवता जिस प्रकार ऐक्यका अवलम्बन करके अपने अंशको प्राप्त करते थे, आप भी वैसे ही एक हो जाओ विरोधको छोड दो, एक ही वचन बोलो, तुम्हारा हृदय एक हो।

"तुम्हारा मंत्र समान हो, समिति समान हो, अन्तःकरण समान हो, विचारसे उत्पन्न हुआ ज्ञान समान हो, तुम्हें एक रूप करनेके लिए अभिमन्त्रण करता हूं तुम्हारी साधारण ही हविसे सन्तुष्ट होता हूं।

"हे ऋत्विजो और यजमानो, तुम्हारा अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों जिससे तुम्हारा सुन्दर साहित्य सङ्घटित हो।"

विश्वमित्र